...स्तानी

त्रैमासिक

...य-पत्रिका

प्रधान सम्पादक
[illegible] शर्मा

...ग ३१ — जनवरी-जून
...क १-२ — सन् १९७० ई०

सहायक सम्पादक
डॉ० [illegible] मिश्र

हिन्दुस्तानी एकेडेम...

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग ३१	जनवरी-जून
अंक १-२	१९७०

प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक : ५ रुपया   वार्षिक १० रुपया

प्रकाशन तिथि : दिसम्बर १९६९

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

• अनुक्रम

प्रतिपत्तिका :

भक्तिकाल के आदिकवि

●

वसन्त दामोदर कुलकर्णी

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कालखंड है। इस काल-खंड का साहित्य श्रेष्ठतर माना जाता है। इसी में हिन्दी-साहित्य का उत्कर्ष हुआ है। सन्त कबीर, तुलसी, सूरदास इसी कालखंड के प्रतिनिधि कवि हैं। इस काल का प्रारम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि भक्तिकाल की प्रारम्भिक रचना हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में नहीं मिलती है, महाराष्ट्र में उसका मूल मिलता है। उससे पूर्व काल-खंड में महाराष्ट्र में मराठी भक्ति-साहित्य विकसित हुआ है। इसी तरह मराठी सन्तों ने हिन्दी भाषा में भी भक्ति-साहित्य की रचना की है। यह उत्तर भारत और महाराष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा का द्योतक है। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान आचार्य विनय-मोहन शर्मा भक्तिकाल के आदिकवि महाराष्ट्र के भागवत सम्प्रदायी सन्तश्रेष्ठ नामदेव को मानते हैं।[1] किन्तु इस कालखंड में हिन्दी भाषा में रचना करने वाले महाराष्ट्र में केवल सन्त नामदेव एक ही नहीं हैं। इनके पूर्ववर्ती मराठी सन्त सत्पुरुषों की भी हिन्दी भाषा में रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। मराठी सन्तों की हिन्दी रचना उत्तर भारत और दक्षिण भारत के सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रमाणित करती है।

महाराष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा में नाथ सिद्धों का बहुत महत्त्व है। नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव भारत के जीवन पर था। महाराष्ट्र में विशेषतः बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में नाथों का बहुत प्रभाव रहा है। उनका उल्लेख महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ के 'लीळाचरित्र' और उनके अन्य ग्रन्थों में मिलता है। [illegible] [illegible], कान्हा, गोरख, इनकी किंवदन्तियाँ 'लीळाचरित्र' में बिखरी हुई हैं।[2] महाराष्ट्र के सन्त श्रेष्ठ ज्ञानदेव नाथ परम्परा के हैं। उनके गुरु एवं ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथ से उन्हें शिष्यत्व प्राप्त हुआ था। निवृत्तिनाथ, गहिनीनाथ के शिष्य थे। 'ज्ञानेश्वरी' में इसका

---

1. आचार्य विनयमोहन शर्मा : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, भूमिका, पृ० ६७-१३० ।
2. लीळाचरित्र, उत्तरार्ध, ४१८, ४०२, पूर्वार्ध भाग ४, पृ० ४६-५२, पूर्वार्ध भाग २, पृ० ३१ । सम्पादक, ह० ना० नेने ।

वारकरी सम्प्रदाय के मराठी सन्तों ने हिन्दी भाषा में रचना की है। सन्तश्रेष्ठ नामदेव इनमे प्रमुख हैं। इसी कारण आचार्य विनयमोहन शर्मा ने उन्हें हिन्दी भक्ति-साहित्य के आदिकवि का सम्मान प्रदान किया है।

सन्त नामदेव का काल शालिवाहन शक संवत् ११९२ से १२७२ (ईसवी १२७० से १३५०) माना जाता है। नामदेव उत्तर भारत और पंजाब में लगभग १८ वर्ष तक कार्य करते रहे। विसोबा खेचर के शिष्य, महाराष्ट्र के सन्त नामदेव और पंजाब के बहोरदास के गुरु, सन्त शिरोमणि बाबा नामदेव महाराज एक ही हैं। पंजाब के बाबा नामदेव का जन्म संवत् १४२० फाल्गुन बसन्त पञ्चमी रविवार माना जाता है।[१] इस आधार पर पंजाब के नामदेव बाद के ठहरते हैं। इस विषय में हिन्दी, मराठी में बहुत चर्चा हुई है।[२] किन्तु पंढरपूर, विट्ठलोपासना, किवदन्तियाँ और विचार भाषा, अलंकार योजना एवं कल्पनाओं की समानता के आधार पर वे दोनों नामदेव एक ही है, ऐसी विद्वानों की धारणा है।[३] खालसा ट्रैक्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित भगत नामदेव जी दा जीवन चरित में—

---

१. संमत चौदा से अरु बीस। बरत की आ राह जगदीस।
फाग मास आगहन करतुती रितु। रितराज अनूप सुहाई।
तिथि पंचमी पाई बडाई। रव दिन महूरत आइआ।
बालकुमारी बालक पाइआ॥ —बाबा पूरणदास कृत 'अनम साखी।'

२ (अ) Dr. R. G. Bhandarkar, Vaishnavism, Saivism and minor Religion systems, sec. 73.
(ब) V. B. Patwardhan, Wilson Philological Lectur, Bombay, 1917.
(स) Max Arthor Macauliff, Sikh Religion, Vol. VI pp. 17-72.
(द) डॉ० मोहनसिंह : भक्त शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली, भूमिका, पृ० ३।
(य) अ० का० प्रियोलकर, 'शिखांच्या आदिग्रन्थातील नामदेव' विविध ज्ञान विस्तार, वर्ष ६८, अंक ११ व १२।

३. (अ) पं० पांडुरंग शर्मा, 'नामदेवांचा कालनिर्णय,' भारत इतिहास संशोधक मंडल, त्रैमासिक, पुणे, वर्ष ५ शके १८४६, पृ० ३०-५८।
(ब) म० गो० बारटक्के, 'शिखांच्या आदिग्रन्थातील नामदेव' लोकशिक्षण, मुम्बई, आक्टोबर १९४०।
(स) रं० ह० भाटुंकर, माधव आप्पाजी मुलेकृत नामदेव चरित्र, प्रस्तावना, पृ० ९७-१११।
(द) एक महाराष्ट्रीय, 'पंजाबांतील नामदेव सम्प्रदाय', लोकशिक्षण, मुम्बई, नो० होवर, ११३२, पृ० ५९०-६१२।
(य) श० पु० जोशी, पंजाबांतील नामदेव, पृ० १३-७१।

'अता तां नामदेव दे जनममरणादि तारीखां तों जो
मरहटी कताब बीच दितीया हत, उपरला सिटा
काढि ग्रांसी, अते ओह सानु ठीक ही मलूम देता है।'[१]

ऐसा लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों नामदेव एक ही है। सन्त नामदेव का समाधिकाल शके १२७२ (ईसवी १३५०) है। पंजाब और उत्तर भारत में उनका १८ वर्ष का रहना मान लिया जाय तो वे शके १२५४ (ईसवी १३३२) में पंजाब तथा उत्तर भारत आये होंगे और ईसवी १३३२ से से १३५० में उन्होंने हिन्दी भाषा मे रचनाएँ की होगी। इससे पूर्व की उनकी हिन्दी भाषा में रचना है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। महाराष्ट्र में हिन्दी भाषा में रचना करने वाले केवल एक ही नामदेव नहीं हैं, इनके पूर्व भी मराठी सत्पुरुषों की हिन्दी भाषा में रचनाएँ मिलती है।

वारकरी सम्प्रदाय के साथ-साथ महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ नामक एक सम्प्रदाय विद्यमान था। पंजाब और उत्तर-भारत में इस पंथ को जयकृष्णी पंथ कहते हैं। इस पंथ की धार्मिक एवं पूज्य भाषा मराठी है। इस पंथ के अनुयायी मराठी के साथ-साथ हिन्दी भाषा में रचना किया करते थे। दामोदर पंडित महानुभाव पंथ के विद्वान् व्यक्ति एवं पंथ से निष्ठा और श्रद्धा रखने वाले भक्त हैं। उनकी हिन्दी भाषा में चौपदियाँ मिलती हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने कुछ चौपदियाँ उद्धृत की हैं।[२] किन्तु इन चौपदियों और दामोदर पंडित के काल की चर्चा उन्होंने नहीं की। इसलिए यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहा है। दामोदर पंडित और सन्त नामदेव समकालीन हैं लेकिन दामोदर पंडित की हिन्दी रचना सन्त नामदेव की हिन्दी रचना की पूर्ववर्ती है। इसलिए दामोदर पंडित के काल पर विचार करना समीचीन होगा।

महानुभाव पंथ के सिद्ध पुरुष एवं चतुर्थ कृष्णावतार श्री गोविंदप्रभु के निर्वाण के पश्चात्[३] (शके १२०९ तथा ईसवी १२८७) इस पंथ के आद्य आचार्य नागदेवाचार्य मराठवाड़ा निंबा गाँव में रहते थे। एक समय आचार्य जी से मिलने के लिए नाथपंथ के एक सिद्ध आये। उनके साथ चर्चा करने के लिए आचार्य ने दामोदर पंडित की नियुक्ति की। चर्चा के उपरान्त उसके उत्तर में दामोदर पण्डित ने एक चौपदी गाई।

इस प्रकार दामोदर पंडित की ६० चौपदियाँ हैं। ये ६० चौपदियाँ ७ भागों में विभाजित की गई हैं। एक विभाग की पन्द्रह चौपदियाँ मैंने सम्पादकीय टिप्पणी के साथ

---

१. भगत नामदेवजीदा जीवन चरित, खालसा ट्रैक्ट सोसायटी, अमृतसर द्वारा प्रकाशित पुस्तिका, भाग ३, पृ० ३२-६४।

२. आचार्य विनयमोहन शर्मा : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ८६-८८; २३५-३८।

३ सम्पादक वि० मि० कोलते, गोविन्दप्रभुचरित्र, प्रस्तावना, पृ० १७।

प्रकाशित की है।[1] मेरे और स्वामी कृष्णदास के संयुक्त सम्पादन से पूरी रचना शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इन चौपदियों में से २५ चौपदियाँ शुद्ध रूप से हिन्दी भाषा में हैं। इन चौपदियों की प्रशंसा स्वयं आचार्य नागदेवाचार्यजी ने की है।[2] पंथ में इन चौपदियों को 'स्मृतिरूप' माना जाता है। इन चौपदियों में उत्कट भक्ति और तत्त्वज्ञान का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। दामोदर पंडित की इन चौपदियोंका रचना काल शके १२०९ (ईसवी १२८७) से शके १२३८ (ईसवी १३१६) माना जाता है। इसका कारण यह है कि दामोदर पंडित का देहावसान डॉ० वि० मि० कोलते ने शके १२२८ (ईसवी १३१६) निश्चित किया है। किन्तु सम्प्रदाय की दृष्टि से वह और भी पहले अर्थात् शके १२२८ (ईसवी १३०६) माना माना जाता है।[3] निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि दामोदर पंडित की हिन्दी रचना शके १२०९ (ईसवी १२८७) के पश्चात् और शके १२३८ (ईसवी १३१६) से पूर्व हुई है। सन्त नामदेव की हिन्दी रचना इससे पूर्व हुई है, इस तरह का कोई प्रमाण आज उपलब्ध नही है। सन्त नामदेव की हिन्दी रचना सम्भवतः शके १२५४ (ईसवी १३३२) के पश्चात् की होगी। उनकी हिन्दी रचना शके १२०९ (ईसवी १२८७) के पूर्व की है, यह जब तक सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब तक भक्तिकाल के आदिकवि दामोदर पंडित को ही मानना चाहिए। दामोदर पंडित की हिन्दी रचना का साहित्यिक महत्व है। डॉ० श्रीराम शर्मा कहते है —

यद्यपि नामदेव से पहले भी कुछ लोगों ने हिन्दी में लिखा है; किन्तु उनकी रचना साहित्यिक दृष्टि से महत्व नही रखती।[4]

दामोदर पंडित की इन चौपदियों की आलोचना करने का यदि उन्हें अवसर मिलता, तो वे इस निश्चय पर नहीं पहुँचते। इससे यह सिद्ध होता है कि, भक्तिकाल के आदि कवि दामोदर पंडित हैं और उन्हें यह सम्मान प्रदान किया जाना उचित है।

दामोदर पंडित के पहले महाराष्ट्र में मराठी सन्तों की हिन्दी रचनाएं नहीं मिलती, ऐसा नहीं है। महानुभाव पंथ के संस्थापक श्री सर्वज्ञ चक्रधरजी ने अपनी शिष्या उमाइसा को धनाश्री राग में एक चौपदी गाकर सुनाई। वह इस प्रकार है—

---

१. प्रा० व० दा० कुलकर्णी, 'दामोदर पंडिताच्या चौपद्या', पृ० २७-३१; संहिता सहा-सात; मराठी स्वाध्याय-संशोधन-पत्रिका, उस्मानिया विद्यापीठ, अंक १, १९६४।

२. नाथवाणी प्रसंसीसी : आन चौपदी ही गायिसीः मृगौनि ते प्रमाण करुनि पंडित वासीं तें भाशा प्रधान करुनि चौपदया केलिया : तयाचि प्रसंसा भटोबासीं केली ·· सोधांसे, हरिमास व धाकुरे सोंगोबासकृत 'अन्वय-स्थल', ४, सम्पादक, डॉ० वि० मि० कोलते, महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, पुणे, अंक १०६, १९५३।

३. दामोदर पण्डित कृत 'वछाहरण', सम्पादक, डा० वि० मि० कोलते, प्रस्तावना पृ० ३२-३६।

४. डॉ० श्रीराम शर्मा : दक्खिनी का पद्य और गद्य, निवेदन, पृ० २६।

मूलस्थानीं भीड बांधो हो जोइ : जेवि न कालकलाइ
गुरुवचने वोडियाना हठ बांधो : जेवि ना चंचल होइ ।।घ्रु०।।
गोरक्षी हो सूनी वांधी : स्थिरु होइ जेणें तुह्मी जाया
सो परि मारो : बैरी आनु नाही कोइ ।।१।।
पांचैं पंचादान पाचैं जान हो : धावंनि आन आन स्थानी
उन्मनि कारणें नीज मुनी लीन : ना तें मारिएलें नीजस्थानी ।।२।।
पवन पूरो मन धीर करो : चन्द्रा मीलावो भानु
आयागमन ये दुष नीवारो : बूधि राखों आपणा ।।३।।
भाटी जातां नीवारो हो : भीडो बाइ वो उजाइ
अलख नीरंजनी लो कर हो : भावा ना भाव होइ ।।४।।[१]

यद्यपि यह चौपदी श्रीसर्वज्ञजी ने गाई है, किन्तु इसका रचयिता अज्ञात है। इसी समय उनकी शिष्या उमाइसा ने हिन्दी पद के दो चरण गाए है—

बापू रे मोरी अवस्था लो : जाहा जावां ताहां
आपसरिमा तवं कोइ न करे : मोरी चींता ।।[२]

इस रचना का कवि भी अज्ञात है। मराठी साहित्य में हिन्दी भाषा से सम्बन्धित यह प्रथम उल्लेख है। इन दोनों के रचयिता अज्ञात होने के कारण उनका यहाँ विचार करना उचित नहीं होगा। दामोदर पंडित की रचनाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसलिए वे ही भक्तिकाल के आदि हिन्दी कवि सिद्ध होते हैं। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव और दामोदर पंडित की हिन्दी रचनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के ये महान् कवि है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में महाराष्ट्र ने बहुत बड़ा योगदान दिया है। दामोदर पंडित और सन्त नामदेव दोनों समकालीन हैं किन्तु दामोदर पंडित की हिन्दी रचना सन्त नामदेव की हिन्दी रचना से पूर्व की है। हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के आदिकवि महानुभाव पंथ के विद्वान् पण्डित दामोदर पण्डित ही हैं।



१. लीलाचरित्र, उत्तरार्ध, ३२१, पृ० १९४, सम्पादक, ह० ना० नेने०।
२. वही।

क्रोध में भर्त्सना की अभिव्यक्ति

किरन रानी

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डुगल ने मनुष्य के समस्त कार्यकलापों का स्रोत १४ मूलप्रवृत्तियों को माना है, जो जन्मजात और जातिगत होती हैं। इन्हीं में से एक युद्ध प्रवृत्ति भी है, जिसका आधार क्रोध का संवेग है। साधारणतः जब व्यक्ति के कार्य व्यापार या जीवन प्रवाह में कोई बाधा उपस्थित होती है या उसे कोई कष्ट मिलता है तो क्रोध का संवेग जाग्रत होता है। किसी संवेग की प्रतिक्रिया अनेक रूपों एवं अनेक स्तरों पर होती है। क्रोध के संवेग की प्रतिक्रिया अपने प्राकृतिक रूप में तीन स्तरों पर व्यक्त होती है—

(क) पीड़ा अथवा अपमान (शारीरिक या मानसिक) का प्रदर्शन।
(ख) पीड़ा से बचने और उसे दूर करने का प्रयास।
(ग) प्रतिशोध की इच्छा।

साहित्यिक दृष्टि से ये तीनों स्तर संचारी भाव अमर्ष के अन्तर्गत आ सकते हैं। नाट्यशास्त्र में अमर्ष की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

'जब विद्या, ऐश्वर्य या बल में अधिक व्यक्ति किसी का आक्षेप द्वारा अपमान करते हैं तो इस आक्षिप्त अथवा अपमानित व्यक्ति में यह भाव उद्बुद्ध होता है और वह इसको शिर कम्पन, स्वेद, अधोमुख चिन्तन द्वारा अभिव्यक्त करता है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने आक्षेप के प्रतिकार की इच्छा को अमर्ष कहा है। (नाट्यदर्पण ३ : १३७) और व्याख्या में अमर्ष एवं क्रोध में भेद बताने का भी प्रयास किया है। वाग्भट (काव्यानुशासन, पृष्ठ ५८) और शारदातनय (भा० प्र० पृष्ठ २२) नें इसको प्रतिकार की इच्छा बताया है। इस प्रकार 'अमर्ष' के दो स्तर हैं, एक तो अपमान की पीड़ा; दूसरे, प्रतिकार की इच्छा। वस्तुतः इन दोनों स्तरों के मध्य एक अन्य स्तर भी है जिसमें अप्रिय स्थिति को दूर करने का प्रयास अपेक्षाकृत शान्त मनःस्थिति में होता है।

प्रतिक्रिया के तीन स्तरों को देखते हुए क्रोध की भाषागत अभिव्यक्ति को भी तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम स्तर तो मात्र पीड़ा की चेतना अथवा प्रदर्शन है, वहाँ क्रोध नहीं है। द्वितीय स्तर पर वर्जना अथवा ताड़ना द्वारा क्रोध के कारण को दूर करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु क्लेश या पीड़ा के निःशेष हो जाने पर भी व्यक्ति का आहत अहं उसे शान्त नहीं होने देता। फलस्वरूप भर्त्सना, अभिशापन, तिरस्कार और प्रताड़ना के माध्यम से क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इसके आगे एक स्तर और भी है जहाँ आवेश अपने चरम स्तर (हिंसात्मक क्रोध) तक पहुँच जाता है। इस स्तर की भाषागत अभिव्यक्ति ललकार, धमकी, चुनौती आदि के रूप में मिलती है

भर्त्सना का स्वरूप :

यह देखना आवश्यक है कि दूसरे की भर्त्सना करने की प्रवृत्ति के पीछे कौन से भाव क्रियाशील रहते हैं। साधारणतः आहत अहं की प्रतिक्रिया में व्यक्ति न केवल आत्मप्रशंसा वरन् निन्दा एवं अपशब्दों के प्रयोग द्वारा विरोधी को भी उतनी ही चोट पहुँचाना चाहता है।

किसी के द्वारा मिली हुई मानसिक पीड़ा या अपमान की प्रतिक्रिया दो रूपों में होती है एक तो स्वयं को अपराधी मान कर आत्मग्लानि के रूप में; दूसरे, विरोधी को भी उतनी ही पीड़ा देकर प्रतिशोध के रूप में। पहली प्रक्रिया निश्चय ही कष्टप्रद है, अतः साधारणतः दूसरी प्रक्रिया अपनायी जाती है। फलस्वरूप भर्त्सना की अभिव्यक्ति होती है।

'भर्त्सना' के पीछे एक अन्य कारण भी है, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने 'Pleasure of Anger' कहा है। दूसरे को किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुँचा कर मनुष्य की आदिम पाशविक प्रवृत्तियाँ सन्तुष्ट होती हैं। इस आनन्द का आस्वादन व्यक्ति तभी कर सकता है जब कि उसे ज्ञात हो कि उसकी कौन-सी बात दूसरे को कितनी पीड़ा पहुँचा सकती है। बालकों को यह ज्ञान नहीं होता है।[1]

मनोविज्ञान के अनुसार क्रोध की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो प्रकार से होती है :

(क) अचानक मिली कोई पीड़ा या क्लेश अथवा उत्तेजना इसका कारण होती है। कुछ लोगों का स्वभाव भी ऐसा होता है कि क्रोध का संवेग जाग्रत होते ही अपने पूरे वेग से प्रगट हो जाता है। निश्चय ही ऐसी अभिव्यक्ति में भर्त्सना का स्थान प्रमुख रहता है।

(ख) अभिव्यक्ति का दूसरा रूप वह है जहाँ क्रोध लम्बी अवधि तक व्यक्ति के मन

---

1 In children we see the two first forms on early period, the last does not appear until the notion of personality and the sense of action on others, have been developed, The distinctive feeling of anger implies the impulse knowingly to inflict suffering upon another sentiment being and to derive a positive gratification from the fact of suffering inflicted. A. Bain : Emotional Development.

क्रोध में भर्त्सना की अभिव्यक्ति

किरन रानी

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडुगल ने मनुष्य के समस्त कार्यकलापों का स्रोत १४ मूलप्रवृत्तियों को माना है, जो जन्मजात और जातिगत होती है। इन्हीं में से एक युद्ध प्रवृत्ति भी है, जिसका आधार क्रोध का संवेग है। साधारणतः जब व्यक्ति के कार्य व्यापार या जीवन प्रवाह में कोई बाधा उपस्थित होती है या उसे कोई कष्ट मिलता है तो क्रोध का संवेग जाग्रत होता है। किसी संवेग की प्रतिक्रिया अनेक रूपों एवं अनेक स्तरों पर होती है। क्रोध के संवेग की प्रतिक्रिया अपने प्राकृतिक रूप में तीन स्तरों पर व्यक्त होती है—

(क) पीड़ा अथवा अपमान (शारीरिक या मानसिक) का प्रदर्शन।
(ख) पीड़ा से बचने और उसे दूर करने का प्रयास।
(ग) प्रतिशोध की इच्छा।

साहित्यिक दृष्टि से ये तीनों स्तर संचारी भाव अमर्ष के अन्तर्गत आ सकते है। नाट्यशास्त्र में अमर्ष की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :

'जब विद्या, ऐश्वर्य या बल में अधिक व्यक्ति किसी का आक्षेप द्वारा अपमान करते हैं तो इस आक्षिप्त अथवा अपमानित व्यक्ति में यह भाव उद्बुद्ध होता है और वह इसको शिर कम्पन, स्वेद, अधोमुख चिन्तन द्वारा अभिव्यक्त करता है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने आक्षेप के प्रतिकार की इच्छा को अमर्ष कहा है। (नाट्यदर्पण ३ : १३७) और व्याख्या में अमर्ष एव क्रोध में भेद बताने का भी प्रयास किया है। वाग्भट (काव्यानुशासन, पृष्ठ ५८) और शारदातनय (भा० प्र० पृष्ठ २२) ने इसको प्रतिकार की इच्छा बताया है। इस प्रकार 'अमर्ष' के दो स्तर है, एक तो अपमान की पीड़ा; दूसरे, प्रतिकार की इच्छा। वस्तुतः इन दोनों स्तरों के मध्य एक अन्य स्तर भी है जिसमें अप्रिय स्थिति को दूर करने का प्रयास अपेक्षाकृत शान्त मनःस्थिति में होता है।

प्रतिक्रिया के तीन स्तरों को देखते हुए क्रोध की भाषागत अभिव्यक्ति को भी तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम स्तर तो मात्र पीड़ा की चेतना अथवा प्रदर्शन है, वहाँ क्रोध नहीं है। द्वितीय स्तर पर वर्जना अथवा ताड़ना द्वारा क्रोध के कारण को दूर करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु क्लेश या पीड़ा के निःशेष हो जाने पर भी व्यक्ति का आहत अहं उसे शान्त नहीं होने देता। फलस्वरूप भर्त्सना, अभिशापन, तिरस्कार और प्रताड़ना के माध्यम से क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इसके आगे एक स्तर और भी है जहाँ आवेश अपने चरम स्तर (हिंसात्मक क्रोध) तक पहुँच जाता है। इस स्तर की भाषागत अभिव्यक्ति ललकार, धमकी, चुनौती आदि के रूप में मिलती है

भर्त्सना का स्वरूप :

यह देखना आवश्यक है कि दूसरे की भर्त्सना करने की प्रवृत्ति के पीछे कौन से भाव क्रियाशील रहते हैं। साधारणतः आहत अहं की प्रतिक्रिया में व्यक्ति न केवल आत्मप्रशंसा वरन् निन्दा एवं अपशब्दों के प्रयोग द्वारा विरोधी को भी उतनी ही चोट पहुँचाना चाहता है।

किसी के द्वारा मिली हुई मानसिक पीड़ा या अपमान की प्रतिक्रिया दो रूपों में होती है एक तो स्वयं को अपराधी मान कर आत्मग्लानि के रूप में; दूसरे, विरोधी को भी उतनी ही पीड़ा देकर प्रतिशोध के रूप में। पहली प्रक्रिया निश्चय ही कष्टप्रद है, अतः साधारणतः दूसरी प्रक्रिया अपनायी जाती है। फलस्वरूप भर्त्सना की अभिव्यक्ति होती है।

'भर्त्सना' के पीछे एक अन्य कारण भी है, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने 'Pleasure of Anger' कहा है। दूसरे को किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुँचा कर मनुष्य की आदिम पाशविक प्रवृत्तियाँ सन्तुष्ट होती हैं। इस आनन्द का आस्वादन व्यक्ति तभी कर सकता है जब कि उसे ज्ञात हो कि उसकी कौन-सी बात दूसरे को कितनी पीड़ा पहुँचा सकती है। बालकों को यह ज्ञान नहीं होता है।[1]

मनोविज्ञान के अनुसार क्रोध की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो प्रकार से होती है :

(क) अचानक मिली कोई पीड़ा या क्लेश अथवा उत्तेजना इसका कारण होती है। कुछ लोगों का स्वभाव भी ऐसा होता है कि क्रोध का संवेग जाग्रत होते ही अपने पूरे वेग से प्रगट हो जाता है। निश्चय ही ऐसी अभिव्यक्ति में भर्त्सना का स्थान प्रमुख रहता है।

(ख) अभिव्यक्ति का दूसरा रूप वह है जहाँ क्रोध लम्बी अवधि तक व्यक्ति के मन

1 In children we see the two first forms on early period, the last does not appear until the notion of personality and the sense of action on others, have been developed, The distinctive feeling of anger implies the impulse knowingly to inflict suffering upon another sentiment being and to derive a positive gratification from the fact of suffering inflicted. A. Bain : Emotional Development.

में रह कर बैर में परिणत हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्रोध की अभिव्यक्ति संवेग के रूप में नहीं वरन् भाव के रूप में सोच-समझ कर चेतन स्तर पर होती है। इस रूप में व्यंग्य भर्त्सना से अधिक प्रधान हो जाता है।

भर्त्सना के भेद :

यों तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ भर्त्सना का रूप परिवर्तित होता रहता है। संस्कार, परिस्थितियाँ, सामाजिक स्थिति, आयु, व्यक्तित्व, पात्रता, शिक्षा आदि विभिन्न तत्वों का भर्त्सना पर प्रभाव पड़ता है।

साधारणतः भर्त्सना की अभिव्यक्ति प्रायः कंठ स्वर के विशिष्ट रूप से ही हो जाती है। 'जाओ' साधारण रूप से आज्ञा मात्र है, परन्तु यदि इसी को बल देकर जोर से और दूसरे अक्षर को विलम्बित कर के कहा जाय (जाओ ऽऽ), तो वह भर्त्सना या प्रताड़ना व्यक्त करेगा। कभी-कभी तो स्पष्ट भर्त्सना से अधिक प्रभावशाली कंठस्वर द्वारा प्रकाशित भर्त्सना होती है। बच्चों के द्वारा की गयी भर्त्सना वास्तव में कंठस्वर के माध्यम से ही व्यक्त होती है। अनुभव आदि के साथ-साथ वह क्रमशः अपशब्द, धिक्कार, अभिशापन का भी प्रयोग करने लगता है। यद्यपि अपवाद के रूप में, बच्चे भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं तथापि वे उनमें निहित अर्थ एवं उसके प्रभाव क्षेत्र से अनभिज्ञ रहते हैं।

कंठस्वर की उग्रता का कारण विरोधी पर हावी होने की इच्छा रहती है। कंठस्वर की यह तीव्रता बिना प्रयास के आ जाती है :

"भैया कुर्सी के हत्थे पर हाथ मार कर गरज उठे, 'जिन्होंने अपनी इकलौती बेटी को चालीस साल के बूढ़े पर बलि चढ़ाने में ......"[1]

उपर्युक्त वाक्य साधारण कथन मात्र हो जाता यदि उसके साथ 'गरज उठे' का प्रयोग न होता।

विरोधी पर हावी होने की प्रवृति कभी-कभी विशिष्ट शब्दों के माध्यम से भी व्यक्त होती है। आवश्यक नहीं कि ये विशिष्ट शब्द अपशब्द ही हों; जैसे, 'चुप रहो' या 'बड़े आये।' कालान्तर में ऐसे शब्द रूढ़ होकर अपशब्दों की श्रेणी में आ जाते हैं। अधिक आलंकारिक भाषा में—

"ज्यादा कानून मत छाँटो, सात फेरों की व्याहता हूँ, कोई लौ मैरिज करके थोड़े ही आयी हूँ जो बिना चाकरी कराये रोटी न दोगे।"[2]

'कानून मत छाँटो', 'कानून मत बघारो' ऐसे ही विशिष्ट प्रयोग हैं। इसी प्रकार किसी के अधिक बोलने पर लोग झुंझला कर कह देते हैं—बन्द कर यह 'बक-बक' अथवा 'क्या

---

१. 'संघर्ष': धरती की बेटी, संग्रह सोमा वीरा, प्रथम संस्करण, पृ० ३।
२. 'लौ मैरिज', धर्मयुग, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा।

टें-टें लगा रक्खी है।' ये शब्द वास्तव में अपशब्द नहीं हैं किन्तु इनका विशिष्ट प्रयोग इन्हें अपशब्दों की श्रेणी में ला देता है :

" सर्कस वालों ने उसका विरोध करते हुये कहा, क्या बकते हो डाक्टर ? मेरा खानदानी पेशा ही शेरों को पकड़ कर खेल दिखाना है।"[1]

किसी सभ्य व्यक्ति के कथन को 'बकना' रूप देना ही उसकी पर्याप्त भर्त्सना है। इसी प्रकार—

" चुप बे बुड्ढे। शारदा बिगड़ा, "पकर-पकर मत कर। अपनी नहीं देखता, जबान पर लगाम नहीं है। चमड़े की जीभ सटर-सटर करता है।"[2]

फिर भी जब विरोधी शान्त नहीं होता या विरोधी पर हावी नहीं हो पाते तो भर्त्सना का एक नया रूप उपेक्षा-युक्त-भर्त्सना मिलता है। जैसे—'बकता है तो बके।'

इसी प्रकार 'बड़े मियाँ' भी एक प्रयोग है, जो अप्रत्यक्ष रूप से भर्त्सना की व्यंजना करता है।

ममी : बड़ी इज्जत वाले आये हो। इज्जत ऐसी होती तो अपनी बीवी से चर्च में भाड़ू निकलवाने का काम न करवाते। बेटी से होटल में काम न करवाते।[3]

विशेष कर स्त्रियों द्वारा 'बड़े आये' या 'बड़ी आयी' का प्रयोग अधिक होता है। किसी के द्वारा अपनी प्रशंसा किये जाने पर भी भर्त्सना के रूप में 'बड़े आये तीसमार खाँ' आदि प्रयोग मिलते हैं।

अपशब्द युक्त भर्त्सना

वास्तव में शुद्ध भर्त्सना के अन्तर्गत केवल अपशब्द आते हैं। विभिन्न प्रकार की गालियों का अपरिमित कोष, दोषारोपण आदि भर्त्सना के माध्यम हैं। भर्त्सना का उद्देश्य ही दूसरे को मानसिक रूप से पीड़ित करना है, अतः व्यक्ति के मर्म या किसी दुर्बलता पर चोट की जाती है। स्त्रियों के क्रोध में यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। यदि आलम्बन भी नारी हुई तो भर्त्सना का आधार रूप, रंग, चरित्र, मातृत्व अथवा पति होगा। अशिक्षित स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त गालियाँ इस बात का प्रमाण हैं; जैसे—राँड, हरजाई, छिनाल, निपूती, बाँझ, काली माई या कल्लो (काली स्त्री के लिए) घोड़मुँहनी, फूहड़, कुटनी, घरफोड़न, लड़ाका आदि।

भर्त्सना का एक रूप दोषारोपण भी होता है। जैसे, तुम दुश्चरित्र हो, तुमने अपराध किया है, यह तुम्हारे अपराधों का फल है, आदि। कभी-कभी भर्त्सना का 'नीतिपरक' रूप भी मिलता है, जैसे—तुम्हें ऐसे नहीं करना चाहिये था, तुम्हारे लिये यह अनुचित है।

---

१. खाली कुर्सी की आत्मा : लक्ष्मीकान्त वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३७७।

२. 'दूसरा सुख', केशव प्रसाद मिश्र, नई कहानियाँ।

३ प्रश्न और प्रस्तर : 'नरेश मेहता।

अत्यन्त आवेश में भर्त्सना का एक विशिष्ट रूप देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में भर्त्सना व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण या अपशब्दों के प्रयोग के द्वारा नहीं होती है वरन् विस्फोटात्मक वाक्यों के रूप में होती है। मन का समस्त आक्रोश, घृणा और तिरस्कार कुछ शब्दों के माध्यम से व्यक्त हो जाता है, जैसे —

"कई आदमियों के रोके जाने पर भी बाबू अजनारायण अपनी काली अचकन की परवाह न करके किवाड़ खोलते हुए झपटे—भाड़ में ले जाइये अपना दहेज' "उनके मुँह से झाग आ रहा था। और लाल लाल आँखें कपाल पर चढ़ गयीं।"[1]

अपशब्दों का एक विशिष्ट रूप जातिवाचक सम्बोधन में मिलता है, जैसे—"बनिया कहीं का", "चमार कहीं का", "मोची की जात", "तेली" आदि। यह आवश्यक नहीं की आलम्बन निम्न जाति का हो तभी जातिवाचक सम्बोधन मिलेगा। ब्राह्मणों को भी क्रोध में "पण्डित कहीं का" या "पण्डित की जात" कहते सुना जाता है। इसी प्रकार गुणवाची शब्दों का प्रयोग भी भर्त्सना के रूप में करते हैं, जैसे संगीत में निपुण व्यक्ति को गवैया कहीं का" धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को "भक्त जी" आदि का सम्बोधन क्रोध में भर्त्सना के रूप में दिया जाता है।

अभिशापन

मात्र भर्त्सना की अभिव्यक्ति कम ही होती है। लगातार किसी को गालियाँ देते जाना या दोषारोपण करते जाना, अर्थहीन प्रलाप लगने लगता है। भर्त्सना के साथ अभिशापन भी भविष्य के लिये अनिष्ट भाव को व्यक्त करता है। अभिशापन को ही जन-भाषा में कोसना कहते हैं :

"अरी सात जनम की बैरन, तुझे अपने दुधमुहें बच्चे पर दया नहीं आती। जाने किस जनम का बैर निभाया था मुझसे। तेरी...तेरी" तुझे कोढ़ चले।"[2]

कोसने या अभिशापन के भी कुछ विशिष्ट रूप हैं, जो गालियों की तरह निश्चित एवं प्रचलित हैं, जैसे——

"तुझे माँगे भीख न मिले, तुझ पर फालिज गिरे, तुझ पर भगवान की गाज गिरे, तेरी देह में, तेरे मुँह में कीड़े पड़ें, मेरा घर लूटने वाले चोर तुझ पर गोर पड़े। तू नर्क में पड़े, तू तिल-तिल करके मरे, भगवान करे तुझे ढाई घड़ी की मौत आये, भगवान करे तेरी जान पर पुटकी पड़े, तुझे भवानी ले जायें, तुझ पर ऊपर वाले का कोप हो, तेरी अक्ल पर पत्थर पड़े, बिजली पड़े तुझ पर, और तेरे अमके ढमके पर, तू मर जा, तेरी मिट्टी निकले, तुझे मिरगी आवे कुत्ते की मौत मरे तेरी ठठरी बंधे तेरा नाश हो मर जाये तू आदि

तिरस्कार

वास्तव में क्रोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में तिरस्कार का भाव ही प्रधान रहता है। भर्त्सना तिरस्कार का ही उग्र रूप है। विरोधी यदि निर्बल हुआ तो तिरस्कार अपने शुद्ध रूप मे व्यंजित होता है। अपने बराबर वालों के साथ तिरस्कार का आवेशपूर्ण रूप भर्त्सना के रूप में व्यंजित होता है। अपने से अधिक शक्तिशाली के प्रति यही तिरस्कार चुनौती एवं धमकी के रूप में व्यक्त होता है। आलम्बन जितना ही अधिक शक्तिशाली होगा, भय की मात्रा उतनी ही बढ़ती जायेगी। भय के बढ़ने के अनुपात से ही तिरस्कार का रूप क्रमशः भर्त्सना, चेतावनी, चुनौती, एवं धमकी में परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी विरोधी को अपमानित करने के लिए शुद्ध तिरस्कार की भी व्यंजना होती है। जैसे—

"· · बढ़निया क्रोध में बारूद की तरह भभक उठी, सरम नहीं आती, जिस पर खाते हो उसी पर छेद करते हो ।"

जहाँ विरोधी का व्यक्तित्व उपेक्षणीय हो, वहाँ तिरस्कार युक्त भर्त्सना मिलती है :

'युधिष्ठिर—अरे पामर तब तेरा धर्म कहाँ चला गया था जब एक निहत्थे बालक को सात-सात महारथियों ने मिल कर मारा था ·· अब तू धर्म की दुहाई देता है। धिक्कार है तेरे ज्ञान को !"[1]

तिरस्कार युक्त भर्त्सना एवं तिरस्कार के भी कुछ निश्चित रूप मिलते हैं, जैसे—

"न आये का लिहाज न गये का। आँखों पर टीकरी रख ली है (आँखों पर टीकरी रखना मुहावरा है।)

"दफा हो जा काला मुँह नीले पांव। (विशेषकर स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरा)

"· · ·जाओ अपना मुँह काला करो, कुएँ में डूब मरो। सारी लाज शरम धो कर पी ली है।"

"···जीवन : (आवेश युक्त क्रोध में) भीख माँगने से पहले तुम्हारे हाथ कट कर गिर क्यों न गये। (ख़ाली थाली जोर से जमीन पर मार कर) डूब मरना चाहिए तुम्हें।"

भर्त्सना या तिरस्कार का उद्देश्य दूसरे के अहं को चोट पहुँचाना है, इस दृष्टि से भाषा मे कुछ परिवर्तन अपने आप हो जाते हैं। 'तुम' के स्थान पर 'तू' का प्रयोग या कभी-कभी 'आप' का प्रयोग (व्यंग्य के रूप में) भी मिलता है।

प्रायः नामों और सम्बोधनों को विकृत करके भी तिरस्कार युक्त भर्त्सना की व्यंजना होती है। जैसे, 'शैल' का 'सैलिशा' या 'शैलिया'। इसी प्रकार हरिरमवा, रकेशवा आदि।

व्यंग्यात्मक भर्त्सना या व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना

भर्त्सना का संयत एवं सांकेतिक रूप व्यंग्य के माध्यम से स्पष्ट होता है। कभी-कभी

१ महाभारती की साँझ, अप्रयाम बाई बढ़ती गई रेडियो नाटक) प्रथम

अत्यन्त आवेश में भर्त्सना का एक विशिष्ट रूप देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में भर्त्सना व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण या अपशब्दों के प्रयोग के द्वारा नहीं होती है वरन् विस्फोटात्मक वाक्यों के रूप में होती है। मन का समस्त आक्रोश, घृणा और तिरस्कार कुछ शब्दों के माध्यम से व्यक्त हो जाता है, जैसे —

"कई आदमियों के रोके जाने पर भी बाबू ब्रजनारायण अपनी काली अचकन की परवाह न करके किवाड़ खोलते हुए झपटे—भाड़ में ले जाइये अपना दहेज' "उनके मुँह से झाग आ रहा था। और लाल लाल आँखें कपाल पर चढ़ गयीं।"[1]

अपशब्दों का एक विशिष्ट रूप जातिवाचक सम्बोधन में मिलता है, जैसे—"बनिया कहीं का", "चमार कहीं का","मोची की जात","तेली" आदि। यह आवश्यक नहीं की आलम्बन निम्न जाति का हो तभी जातिवाचक सम्बोधन मिलेगा। ब्राह्मणों को भी क्रोध में "पण्डित कहीं का" या "पण्डित की जात" कहते सुना जाता है। इसी प्रकार गुणवाची शब्दों का प्रयोग भी भर्त्सना के रूप में करते हैं, जैसे संगीत में निपुण व्यक्ति को गवैया कहीं का" धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को "भक्त जी" आदि का सम्बोधन क्रोध में भर्त्सना के रूप में दिया जाता है।

अभिशापन

मात्र भर्त्सना की अभिव्यक्ति कम ही होती है। लगातार किसी को गालियाँ देते जाना या दोषारोपण करते जाना, अर्थहीन प्रलाप लगने लगता है। भर्त्सना के साथ अभिशापन भी भविष्य के लिये अनिष्ट भाव को व्यक्त करता है। अभिशापन को ही जन-भाषा में कोसना कहते हैं :

"अरी सात जनम की बैरन, तुझे अपने दुधमुहें बच्चे पर दया नहीं आती। जाने किस जनम का बैर निभाया था मुझसे। तेरी···तेरी·· तुझे कोढ़ चले।"[2]

कोसने या अभिशापन के भी कुछ विशिष्ट रूप हैं, जो गालियों की तरह निश्चित एव प्रचलित हैं, जैसे—

"···तुझे माँगे भीख न मिले, तुझ पर फालिज गिरे, तुझ पर भगवान की गाज गिरे, तेरी देह में, तेरे मुँह में कीड़े पड़ें, मेरा घर लूटने वाले चोर तुझ पर गोर पड़े। तू नर्क में पड़े, तू तिल-तिल करके मरे, भगवान करे तुझे ढाई घड़ी की मौत आये, भगवान करे तेरी जान पर पुटकी पड़े, तुझे भवानी ले जायें, तुझ पर ऊपर वाले का कोप हो, तेरी अक्ल पर पत्थर पड़े, बिजली पड़े तुझ पर, और तेरे अमके ढमके पर, तू मर जा, तेरी मिट्टी निकले, तुझे मिरगी आवे कुत्ते की मौत मरे तेरी ठठरी बंधे तेरा नाश हो मर जाये तू आदि

तिरस्कार

वास्तव में क्रोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में तिरस्कार का भाव ही प्रधान रहता है। भर्त्सना तिरस्कार का ही उग्र रूप है। विरोधी यदि निर्बल हुआ तो तिरस्कार अपने शुद्ध रूप में व्यंजित होता है। अपने बराबर वालों के साथ तिरस्कार का आवेशपूर्ण रूप भर्त्सना के रूप में व्यंजित होता है। अपने से अधिक शक्तिशाली के प्रति यही तिरस्कार चुनौती एवं धमकी के रूप में व्यक्त होता है। आलम्बन जितना ही अधिक शक्तिशाली होगा, भय की मात्रा उतनी ही बढ़ती जायेगी। भय के बढ़ने के अनुपात से ही तिरस्कार का रूप क्रमशः भर्त्सना, चेतावनी, चुनौती, एवं धमकी में परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी विरोधी को अपमानित करने के लिए शुद्ध तिरस्कार की भी व्यंजना होती है। जैसे—

"' ' बड़निया क्रोध में बारूद की तरह भभक उठी, सरम नहीं आती, जिस पर खाते हो उसी पर छेद करते हो।"

जहाँ विरोधी का व्यक्तित्व उपेक्षणीय हो, वहाँ तिरस्कार युक्त भर्त्सना मिलती है :

'युधिष्ठिर—अरे पामर तब तेरा धर्म कहाँ चला गया था जब एक निहत्थे बालक को सात-सात महारथियों ने मिल कर मारा था ·· अब तू धर्म की दुहाई देता है। धिक्कार है तेरे ज्ञान को !"[1]

तिरस्कार युक्त भर्त्सना एवं तिरस्कार के भी कुछ निश्चित रूप मिलते हैं, जैसे—

"न आये का लिहाज न गये का। आँखों पर टीकरी रख ली है (आँखों पर टीकरी रखना मुहावरा है।)

"दफा हो जा काला मुँह नीले पांव। (विशेषकर स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरा)

"···जाओ अपना मुँह काला करो, कुएँ में डूब मरो। सारी लाज शरम धो कर पी ली है।"

"···जीवन : (आवेश युक्त क्रोध में) भीख माँगने से पहले तुम्हारे हाथ कट कर गिर क्यों न गये। (खाली थाली जोर से जमीन पर मार कर) डूब मरना चाहिए तुम्हें।"

भर्त्सना या तिरस्कार का उद्देश्य दूसरे के अहं को चोट पहुँचाना है, इस दृष्टि से भाषा मे कुछ परिवर्तन अपने आप हो जाते है। 'तुम' के स्थान पर 'तू' का प्रयोग या कभी-कभी 'आप' का प्रयोग (व्यंग्य के रूप में) भी मिलता है।

प्रायः नामों और सम्बोधनों को विकृत करके भी तिरस्कार युक्त भर्त्सना की व्यंजना होती है। जैसे, 'शैल' का 'सैलिया' या 'शैलिया'। इसी प्रकार हरिरमवा, रकेशवा आदि।

व्यंग्यात्मक भर्त्सना या व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना

भर्त्सना का संयत एवं सांकेतिक रूप व्यंग्य के माध्यम से स्पष्ट होता है। कभी-कभी

१ महाभारती की सांझ (अप्रकाश आई बकुती गई रेडियो नाटक) प्रथम

तो स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से भर्त्सना न कर पाने की विवशता व्यंग्य को जन्म देती है। प्रायः व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना का रूप कंठस्वर के माध्यम से ही निखरता है :

'ऊपर से पत्नी का खरखराता स्वर आया—आ गये कमाई करके। अम्मा से कहो द्वार खोल कर थैली सम्हालें।'[1]

पूरे वाक्य को यदि साधारण रूप में कहा जाय तो भर्त्सना स्पष्ट नहीं होती है वरन साधारण कथन मात्र रहता है। परन्तु 'आ गये' पर बलाघात, वाक्य के शब्द-क्रम का परिवर्तन तथा पूरे वाक्य का आरोहात्मक उच्चारण व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना की व्यंजना करता है।

'वाह उसकी यह मजाल। अच्छी बात है देख लूँगा। मेढ़की को जुकाम हुआ है? मेरी बराबरी करेगा। बराबरी कहाँ, आगे बढ़ेगा वह भुनगा।"

उपर्युक्त उद्धरण व्यंग्य और भर्त्सना का मिश्रित रूप है।

कभी-कभी आन्तरिक आक्रोश और झुँझलाहट को संयमित करने की चेष्टा में भर्त्सना व्यंग्य में बदल जाती है और किन्हीं विशिष्ट शब्दों के माध्यम से व्यक्त होती है, जैसे—

" ···उसे अपने इष्ट मित्रों के व्यंग्य एवं क्रोध और भर्त्सना भरी बातें याद आने लगी ··· कुछ आत्मग्लानि एवं हीन भावना भी उसके मन में अंकुरित होने लगी। वह अपनी भावहीनता में इतना उलझ गया कि काँपते हुए आतंकित स्वर में बोला—तो ठीक है देवी जी, आप अपना आदर्श लिये बैठी रहें।[2]"

इस उदाहरण में 'बैठी रहें' शब्द द्वारा व्यंग्य की व्यंजना और व्यंग्य के माध्यम से क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि वक्ता ने चेतन स्तर पर इसका प्रयोग नहीं किया है।

"· और भीड़ को चीरकर समीप आने पर मास्टर दादा की दशा देख कर व्यंग्य भरे लहजे में बोले—कहिए अशरफुलमरवलूकात? आ गये अपनी अवकात पर···"[3]

एक शब्द 'अशरफुलमरवलूकात' व्यंग्यपूर्ण भर्त्सना में समर्थ है। आलम्बन या विरोधी को व्यंग्यपूर्ण उपाधियों द्वारा अलंकृत करके भी व्यंग्यात्मक भर्त्सना की व्यंजना होती है

" वाह रे साहित्य और समाज। मैं तो बाज आयी साहित्य के इन ठेकेदारों से।

'साहित्य के ठेकेदार' व्यंग्यात्मक प्रयोग है। व्यंग्यात्मक भर्त्सना में मुहावरों का प्रयोग बहुत अधिक होता है, विशेषकर स्त्रियों द्वारा। वास्तव में मुहावरों एवं आलंकारिक भाषा के कारण ही भर्त्सना व्यंग्यात्मक हो जाती है।

आमभर्त्सना

भर्त्सना का एक रूप आत्मभर्त्सना भी है परन्तु वह आत्मग्लानि या पश्चाताप से भिन्न है। कभी-कभी आवेश में व्यक्ति चेतन या अचेतन स्तर पर ऐसे वाक्य कह जाता है

---

१. लो मैरिज, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, धर्मयुग २६ दिसम्बर १९६५।

२ खाली कुर्सी की आत्मा वर्मा

३ वही

जो विरोधी को न लग कर स्वयं अपने को लगते हैं। चेतन स्तर पर आत्मभर्त्सना की व्यंजना स्त्रियों द्वारा अधिक होती है। जैसे···भगवान मुझे मौत भी नहीं देता कि इस मुए से पीछा छूट जाय—

'··न तू जायेगा न तेरी बहू, मैं ही अपना मुँह काला करूँगी। मुझे क्या पता था कि जिसे इस कोख से जन्माया वही मुझे दुःख देगा।'[1]

कभी-कभी भर्त्सना का लक्ष्य दूसरा व्यक्ति रहता है परन्तु प्रत्यक्ष्य रूप में वह आत्म-भर्त्सना ही रहती है। वास्तव में यहाँ लक्षणा एवं व्यंजना के माध्यम से भर्त्सना की जाती है, इस प्रकार भर्त्सना का रूप कटु होकर भी शिष्ट रहता है, जैसे—

'अपराध उसने नहीं मैंने किया है—भैया मैंने। तू भी तो अपनी बऊ को ही कहेगा।'[2]

इसी प्रकार—'ठीक है लल्ला, तू भी अपनी सगी सातरी को ही तो कहेगा। मैं तेरी लगू ही किया हूँ।'

ऐसी स्थिति में जब आलम्बन के प्रति क्रोध का पूर्ण प्रकाशन सम्भव नहीं होता या आलम्बन की भर्त्सना नहीं की जा सकती, आवेश की अभिव्यक्ति आत्मभर्त्सना के रूप में होती है। जैसे, भरत का माता के प्रति आवेश निम्नलिखित रूप में व्यक्त हुआ है—

नील से मुँह पोत मेरा सर्व, कर रही वात्सल्य की तू गर्व; खर मंगा वाहन वही अनुरूप, देख ले सब है यही वह भूप

इसी प्रकार माँ का सन्तान के प्रति क्रोध आत्मभर्त्सना के रूप में अधिक व्यक्त होता है। अयोग्यपुत्र के लिए मातायें प्रायः कहती हैं···

हे भगवान मुझे इस घर से उठा ले।
मैं इस घर में अधिक नहीं जीना चाहती।

आत्मभर्त्सना कभी-कभी मात्र झुंभलाहट की व्यंजना भी करती है, जैसे···'हाँ हाँ, मैं तो सिर से पैर तक दोषों से भरी हूँ।' अथवा, 'मैं तो इस घर की नौकरानी हूँ नौकरानी।'

कभी-कभी आमभर्त्सना एवं पर भर्त्सना का मिश्रित रूप भी मिलता है।

मेरे तो भाग उसी दिन मौल गये जिस दिन तूने इस घर में कदम रक्खा था।[3]

'···थोड़ी देर बाद शायद उन्होंने पानी माँगा कि चाची एकदम बम की भाँति फूट पड़ी—'पानी, अरे कलमुहे तुझे तो आग देनी चाहिए थी आग! अब लेके सारा बिस्तरा गन्दा कर दिया। कैसी बदबू फैला दी मुए ने। हाय राम मेरे तो भइया बाप ही बैरी थे जो ऐसे शराबी के साथ मेरी गाँठें जोड़ी[4]

उपर्युक्त कथन जहाँ एक ओर आत्मभर्त्सना है, वहीं दूसरी ओर भइया बाप पर दोषारोपण। साथ ही 'शराबी' शब्द द्वारा प्रत्यक्ष भर्त्सना है।

भर्त्सना के ये कुछ विशिष्ट रूप हैं। यद्यपि व्यक्ति मात्र के साथ इनमें परिवर्तन होता रहता है। संस्कार, शिक्षा, वातावरण, आयु, परिस्थितियाँ आदि अभिव्यक्ति की रीतियों पर प्रभाव डालते हैं तथापि अपने मूल रूप में भर्त्सना की अभिव्यक्ति सीमित ही है।



अपभ्रंश कोश : एक परिचय

●

देवेन्द्र कुमार शास्त्री

सामान्यतः किसी भी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके शब्द-कोश से परिचित होना आवश्यक है। सर्वप्रथम शब्दों की परिचिति तथा अर्थवत्ता का ज्ञान कोश से होता है। एक शब्द के अनेक तथा भिन्न अर्थों की जानकारी भी हमें कोश से मिलती है। जीवित बोली तथा भाषा का ज्ञान हमें शब्द-प्रयोग, प्रसंग तथा सन्दर्भ आदि के अनुकूल प्रयोक्ता की विविध भाव-भंगिमाओं एवं संस्कारवश सहज ही अर्जित कर लेते हैं। किन्तु अतीत की भाषाओं का ज्ञान बिना शब्दकोश के सम्भव नहीं है। ऐसी किसी भी लिखित भाषा का ज्ञान, जो आज बोल-चाल की भाषा न हो, बिना शब्द-कोश के समझना और समझाना बहुत ही कठिन है। केवल व्याकरण के आधार पर सीखी हुई भाषा बिना शब्द-कोश की परिचिति के अपरिचित ही रहती है। अच्छे से अच्छा संस्कृत का विद्वान् भी जब मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का अध्ययन करता है तब उसे पुस्तक हाथ में ले कर कई बार पलटनी पड़ती है और प्रसंगतः अर्थोपपत्ति निश्चित करने हेतु विवश हो कई बार शब्द-कोशों को टटोलना पड़ता है या उस भाषा के विद्वान् से विमर्श लेना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कोश की महत्ता का स्पष्ट पता चल जाता है। कोश के महत्व एवं उसकी उपादेयता के इनकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक स्थिति में भाषा विशेषज्ञों, साहित्य प्रेमियों तथा इतिहास-संस्कृति आदि विषयों के अधिकारी विद्वानों के लिए भी कोश अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा का आज तक कोई कोश प्रकाशित नहीं हो सका, यह एक सखेद चिन्तनीय विषय है और इससे भी अधिक चिन्ता और दुःख की बात यह है कि इस भाषा के परम अधिकारी विद्वान् कोश की महत्ता को टालते रहे हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सम्भवतः प्राकृत भाषा से भिन्न अपभ्रंश का शब्द-समूह नहीं हो सकता। अधिकतर अपभ्रंश भाषा की शब्द-सम्पत्ति प्राकृत के शब्द-भण्डार से समृद्ध है, इसलिये अलग से शब्द-कोश की क्या आवश्यकता है? प्राकृत भाषा के कई शब्द-कोश प्रकाशित हो चुके है, जिनमें अधिकतर अपभ्रंश शब्द मिलते हैं। प्राकृत के अन्य शब्द-कोशों की अपेक्षा 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' (प्राकृत-शब्द महार्णव) में अपभ्रंश शब्द अधिक संख्या में मिलते हैं। इस कोश के द्वितीय

(१९६३) में विशेष रूप से डॉ० दलसुखभाई मालवणिया के योग से 'भविसयत्त कहा' आदि अपभ्रंश ग्रन्थों के शब्दों को सम्मिलित किया गया है। इससे प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों ही भाषाओं के शब्द-कोश के रूप में इसका प्रचलन हो गया है। प्राकृत का सबसे बृहत् कोश 'अभिधानराजेन्द्र' है। किन्तु इस कोश में प्राकृत भाषा के सभी शब्द और उनके सभी अर्थ मिलते हैं, यह कह सकना बहुत ही कठिन है। संस्कृत भाषा के अनेक शब्द-कोशों के होने पर भी संस्कृत-अंग्रेजी तथा कई अन्य शब्द-कोशों का निर्माण-कार्य हुआ और आज भी कई संस्कृत-कोशों का प्रकाशन-कार्य चल रहा है। इतना होने पर भी किसी भी संस्कृत कोश में सम्पूर्ण वाङ्मय के शब्द नही मिलते। संस्कृत-साहित्य के लगभग सभी शब्दों का आज तक संकलन नही हो सका। केवल साहित्य ही नहीं, अन्य विषयों का सम्पूर्ण शब्द-कोश आज तक प्रकाशित नही हो सका। अब भी संस्कृत के कई ऐसे साहित्यिक काव्य हैं, जिनके विविध शब्दों का अर्थ किसी भी संस्कृत-कोश में नहीं मिलता। यही स्थिति प्राकृत-कोशों की है। यथार्थ मे कोश-विषयक कार्य अनुसंधान की दृष्टि से नहीं के बराबर हमारे देश में हुआ। सम्प्रति विभिन्न युगों के कोशों का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण तथा विवेचन आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी हो गया है। क्योंकि हिन्दी कोई सर्वथा असम्पृक्त भाषा नहीं है। हिन्दी की अपनी परम्परा और विरासत है। उसे समझे बिना हम उसका मूल्यांकन कैसे कर सकते है! इस तथ्य को डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ 'पाइअसद्दमहण्णव' के प्रिफेस (प्राक्कथन) में व्यक्त किया है। उनकी यह धारणा वस्तुतः में सत्यया से आकलित है कि पुरानी हिन्दी, प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती, प्राचीन बंगला-मराठी-मैथिली आदि भाषाओं के साहित्यिक ज्ञान के लिए प्राकृत-अपभ्रंश शब्द-सम्पत्ति का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अपने हिन्दी-काव्यों की टीकाओं के प्रस्तुतीकरण में स्व० डॉ० अग्रवाल जी को जो अनुभव हुआ वह इसका सब से बड़ा प्रमाण है। ग्रन्थों के सम्पादन तथा अर्थ-निर्धारण में इन कोशों से अत्यन्त सहायता मिलती है। आधुनिक तथा प्राचीन भाषाओ के बीच अपभ्रंश एक ऐसी कड़ी है, जो सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय साहित्य एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य के मध्य समानान्तर रूप से प्रसारित है। इस शृंखला को जाने-पहिचाने बिना हम भाषिक-शब्दों का ठीक विचार नहीं कर सकते। क्योंकि हमारी परम्परा में वे ही ध्वनियाँ सम्यक् तथा अनुवर्ती हैं, जो मध्यकालीन धारा से सहज प्रवाह रूप में प्राप्त हुई हैं। इधर उनमें निरन्तर कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता जा रहा है, किन्तु परिवर्तन के बीच आज भी सर्वथा परिवर्तन नहीं हुआ है और थोड़ा-बहुत तो सभी युगो में होता आया है। इस परिवर्तन के रूप हमें अधिक स्पष्टता से जन-भाषा में मिलते है, किन्तु साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहता। इस दृष्टि से साहित्य की भाषा का मूल्यांकन अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। आज का भाषा-विज्ञान मुख्य रूप से इसी दृष्टि-कोण को लेकर चल रहा है।

स्व० पंडित हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ द्वारा सम्पादित 'पाइअ सद्द महण्णव' मे अपभ्रंश के बहुत ही कम शब्द मिलते हैं। इस कोश में अधिकतर प्राकृत के वे ही शब्द मिलते हैं जो　　　　प्राकृत से अपभ्रंश में आगत है　ऐसे शब्दो की संख्या पचास

प्रतिशत हो सकती है। इनमें भी कुछ शब्द ऐसे हैं, जो भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द निम्नलिखित हैं :—

प्राकृत से भिन्नार्थक अपभ्रंश शब्द :

पुष्पदन्त के महापुराण में 'णाउ' शब्द स्नायु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (णाउ नहारु—स्नायु, म० पु० ४. ७. ८); किन्तु पाइअ० में यह अर्थ नहीं मिलता। उसमें 'णाउ' का अर्थ जानकार (ज्ञातृ) है। ऐसे अन्य शब्दों की सूची इस प्रकार है—

प्राकृत शब्दार्थ	अपभ्रंश शब्दार्थ
गोर (गौर) गोरा रंग	गोरउ (गोर) ज्ञानरत (म० पु० ४. ६. १)
तलप्प अक (तप्) तपना, गरम होना	तलप्प करप्रहारम् (म० पु० टिप्पणी ४. ११ ७)
	तलप्पंत—उछल कर आते हुए। (वीर कवि : जंबू० च० ५. १४. ६)
उत्थल्लं—आच्छादान करना (?), उछलना	उत्थल्ल—उत्पाटित (टिप्पणी म० पु० १४. १०. १)
अल्लय—आद्रर्क, परिचित, ज्ञात	अल्लय—हाथ का मैल कर—मल (टिप्पणी म० पु० ३१. २४. ४)
ढक्करि—अद्भुत	ढक्करिवन्तय—हठोक्तियुक्त (प० च० १. १०. १)
चक्कि—चक्र वाला, चक्रवर्ती सम्राट्, तेली, कुम्हार	
	चक्की—चक्रवाकी (प० च० १८. १ ९. ४)
उच्चोल—खेद, उद्वेग; नीवी	उच्चोलि—उत्संग, गोद (प० च० ९. ३. १)

तेण वि सरहसेण सव्वङ्गिउ एन्तउ सामीरणि आलिङ्गिउ।
चुम्बेवि उच्चोलिहिं वइसारिउ वारवार पुणु साहुक्कारिउ॥

अवलुअ—पतवार	पउमचरिउ (२०. ३. ३)
अवलुआ—क्रोध	अवलुय—चित्तखेद, (टिप्पणी प० च० २०. ११. ४)
लाहव—लाघव	लाहउ, लाहव—लाभ (प० च० १७. ६. ९, २०. २. १)
पर—अन्य, भिन्न	परए—प्रभाते (टिप्पणी प० च० ७. १३. १)
भुम्भल—मद्य-पात्र	भुम्मल—भोली-भाली (प० च० १४, २. ९) (गुजराती मम्मर भोली
झोल्ल—गह्वर	झोल्ल अतीव गाढ टिप्पणी प० च०

खेरि—नाश खेद, उत्कंठा,	खेरि—वैर (प० च० १३. १०. ९)
वेलु—चोर; मूसल; वेणु	वेलु—मूर्ख (प० च० २९. १. १०)
घोट्ट—पीना	घोट्ट—पीना; पीने वाला; घूँट (प० च० ३८. ६.
चड्डण—भोजन; खाद्य-सामग्री	चड्डण—मर्दन (प० च० ५१. ९. ५)
चडक्क—चटका; शस्त्र विशेष	चडक्क—विद्युत् (प० च० ४३. १५. ९)
चाहिय—वांछित; अपेक्षित; याचित	चाहिय—दृष्ट (प० च० ४६. ८. ५)
छुल्लुच्छुल, चुल्लुच्छुल—छलकना, उछलना	छुल्लुच्छुलय—शीघ्र (प० च० ४५. १०.
विड्डिरिल्ला—रात्रि	विड्डिरिल्ल—विक्षिप्त (प० च० ३७ १
गुह—गूँथना; कार्तिकेय	गुह—गुफा (प० च० १९. ६. ६)
चडुलग—खण्ड खण्ड, किया हुआ	चडुलङ्ग—अड़ियल (प० च० ५. ३. ३)
जत्त—उद्योग, जय	जत्त—यात्रा (प० च० १६. १० ७)
जूरावण—झुराना, शोषण	जूरावण—खेदजनक (प० च० १७. ९.
डमर—विप्लव; कलह	डमर—भय (प० च० १४. १२. ९)
धाराहर—मेघ	धाराहर—राक्षस (प० च० ८. ११. १)
सूअ (सूत)—सारथि; प्रसूत	सूय (सूत)—पारद (करकण्ड च० ९. ६.
तार—निर्मल; देदीप्यमान; चाँदी, अत्युच्च स्वर, वानर विशेष, शुद्ध मोती, ओंकार; माया बीज; चौथा नरक का स्थान	तार—असुर-देवता (करकण्डचरिउ २.
आविअ—पीना; आच्छादित; मथित; इन्द्रगोप	आविय—आगत (ज० च० ७. ४. १६)
उच्छु—इक्षु, पवन	उच्छु—बाण (जंबूसामिचरिउ ३. १०. १४
उम्माहिम—विनाशित	उम्माहिअ—उत्साहित (ज० च० ८. ८. १
कंठाल—बड़ा गला वाला	कंठाल—काठी (ज० चा० ५. ७. १४)
कंसार—कसार मिठाई	कंसार—कंसेरा (ज० च० ५. ७. १८)
खुंद—जाना, पीसना, भूख लगना	खुंद—एक वाद्य (ज० च० ५. ६. १२)
खोर—कटोरा	खोर—पिटारी (ज० च० ९. १३. ६)
धूसर—पाण्डु वर्ण, धूसर रंग वाला	धूसर—मूंग (ज० च० १. ८ ३)
णद्ध (नद्ध)—आच्छादित, नियन्त्रित, कवचित, आरूढ	नद्ध—गाँठ (ज० च० १०. १०. ७)
णाहल—म्लेच्छ की एक जाति	नाहल, णाहल—नाहर, व्याघ्र (म० पु० १३ ११ ६, ज० च० ५. ८. २
मिट्ठ—मीठा, मधुर	मिट्ठ—मेंठ, महावत (ज० च० ७. ६. २)
रुंज—आवाज करना	रुंज वाद्य (ज० च० ५. ६. १०)
खाउअ (खायक)—खाद्य पदार्थ	खाउ—खात् आकाश जिण० च० १ १०

थाम—स्थान बल थाम—स्तम्भ क० च० १ १७ ८)
थमाल—राशि, ढेर थमाल—तुमुल (क० च० ३. ३. ५)

इसी प्रकार के अन्य शब्द भी हैं, जिन का विस्तार से उल्लेख करना संभव नहीं है। कुछ तो मात्रा के भेद से समानार्थक होने पर भी कोश में उल्लेखनीय होते हैं, जैसे—पंसुलि, पंसुली (पुंश्चली), णास, णासा (नासिका), विह्वल-विहाल, विडविड-विडविड, णालि, णाली (नाडी), मड्डु, मड्डा इत्यादि। कभी-कभी मात्रा-भेद से बहुत अन्तर परिलक्षित होने लगता है और कहीं-कहीं इतना अन्तर आ जाता है कि अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, पाइअसद्दमहण्णव में 'मड्ड' शब्द मर्दन अर्थ में एक सकर्मक क्रिया है, किन्तु देशी नाममाला में उसका बलात्कार अर्थ है। बलात्कार अर्थ में पाइअ-सद्दमहण्णव में 'मड्डा' शब्द आया है और उसी से साम्य रखने वाला 'मण्ड' शब्द का प्रयोग पउमचरिउ तथा भविसयत्तकहा में मिलता है। व्यंजन-भेद होने पर भी कहीं-कहीं अर्थ में साम्य लक्षित होता है, यथा-- फाडिम-फाडिय, फम्फाव-फम्फाव, बुक्कण-बुक्कण, खोह-खोभ, हुंडण-भंडण, खोय-खोद, ठाम-ठाय-ठाव ठिय-ठिउ, डस-डंस, ढंक-ढंख इत्यादि।

एक और सन्दर्भ में अपभ्रंश के शब्दों का विचार करना आवश्यक हो जाता है। वह है—प्राकृत के कुछ अर्थों का स्पष्टीकरण जो प्रसंगतः नहीं हो सका है, अपभ्रंश-शब्दों से स्पष्टतः हो जाता है। जैसे—'पाइअसद्दमहण्णव' में लल्ल शब्द का एक अर्थ अव्यक्त आवाज वाला भी है। किन्तु पुष्पदन्त के महापुराण के एक प्रसंग से इसका 'तोतला' अर्थ निश्चित होता है। प्रसंगतः पंक्ति इस प्रकार है—

बहिरंध कुट्ठि वाहिल्ल मिल्ल दालिद्दिय दूहव मूय लल्ल। २९. १८. ४.।

इसी प्रकार 'मंट' शब्द है। 'पाइअसद्दमहण्णव' में तो यह शब्द ही नहीं मिलता। उसमें 'मुंट' शब्द अवश्य है, जिसका अर्थ है—हीन शरीर वाला। पउमचरिउ में भी शब्दानुक्रमणिका-कोश में इसका अर्थ विकलाङ्ग किया गया है। सुदंसणचरिउ के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि 'मंट' का अर्थ 'लूला' (हस्तहीन) है। पंक्ति निम्नलिखित है—

काणकुंटपंगुमंट हिंसट्ठाण मंसखाण। सु० च० ६. ११.

अन्य शब्द हैं :—मड्डु, मड्डड्डमड्ड, मंड, तालो (पिंडखजूर), टुंड (मुखहीन), मंठ (आलसी), सौंडाल (हस्ती), मलहर (तुमुल ध्वनि) तथा चारु (चारोली) इत्यादि।

अपभ्रंश भाषा के ठेठ शब्द तो प्राकृत-साहित्य में देखने को मिलते ही नहीं हैं, इसलिये शब्द-कोश में कहाँ से आ सकते हैं। सम्प्रति उन की निश्चित संख्या बताना सम्भव नहीं है, फिर भी अनुमानतः चालीस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं, जो प्राकृत के शब्द कोशों में नहीं मिलते और दस प्रतिशत ऐसे शब्द हैं, जो संस्कृत से घिस कर अपभ्रंश में आ गये, किन्तु प्राकृत-कोशों में नहीं मिलते या भिन्न अर्थ में मिलते हैं उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न लिखित हैं

हिय—हृत	पउत्त—प्राप्त	विडोज—विडौजा, इन्द्र
अलाउ—आलाप	पडिलाहिय—प्रतिगाहिता	बहूव —बभूव
पहुत्त—प्रभुत्व	वेयलय—वेत्रलता	पच्चीरहि—कथय
आसेसण—आश्लेषण	णाइणिलय—स्वर्ग (नाकनिलय)	
कोय—कोक, चक्रवाक	अलीढ—निर्दोष, अलिप्त	आहि—अन्हि, दिन
ललणिज्ज—ललनीय	वटुअ—वडुक	वच्छायण—वात्स्यायन
वयोहर—वृत्तधर	वाअ—वाक्	विउण—द्विगुण
विक्कार—विकार	वीसमण—विश्राम	वेयाल—वैताल
वेसावाड—वेश्यावाट	व्वंण—व्रण	सइत्त—सचित्त
सकंड—संक्रान्त	संट्ठविय—संस्थापित	संथउ—सार्थवाह
संभउ—सम्भव	संलद्ध—संलग्न	सन्निह—सन्निभ
सव्वण्हु—सर्वज्ञ	सालत्तय—सालक्तक	वग्गा—वल्गा, लगाम
गुरुक्की—गुर्वी	छारहडि—क्षारघटी	छक्खंड—षट्खण्ड
जग्ग—यज्ञ	जिणाल—जिनालय	जीह—जीभ, जिह्वा
हुआस—हुताश, अग्नि	हुलि—प्रहरण विशेष (हुल—क्षिप्)	
सुअरिसण—सुदर्शन	सिवालय—शिवालय	सिरउड—शिरःपुट
संवाह—ताम्बूल	अच्चेयणा—अचेतना	अछेय—अच्छेद्य
अणडुह—अनड्डुह, बैल	अणवण—अन-वश	अणिव्विरण—अनिर्विण्ण
अद्धुम्मिल्लय—अर्द्धोन्मीलित	अन्तयरि—अन्तकरी	अभेय—अभेद
अत्तावणि—आ-ईषत् वक्र	यल—कला	कउ—कः
कक्कर—कर्कर, पर्वत शिखर	कंजय—कंज, कमल	क वि—क्वापि
काव—काव्य	कुहर—कुधर, पर्वत	कोइ—कोपि
चउरूण—चतुरून	तग्गय—तद्गत	तो वि—ततः अपि
भइय—भीति	भिज्जन्त—भिद्यमान	महराय—महाराज
महाडइ—महाअटवी	मित्तइय—मैत्री	वइयागरण—वैयाकरण
खिज्जइ—दिया जाता है।		

अपभ्रंश के कुछ शब्दों का विचार :

णाहल—इस शब्द का अर्थ 'पाइअसद्दमहण्णव' में इस प्रकार लिखा हुआ है—णाहल पुं० (लाहल) म्लेच्छ की एक जाति (पृ० ३८७)। सम्भवतः इसी अर्थ को ध्यान में रखकर वीर कवि विरचित 'जंबुसामिचरिउ' की निम्नलिखित पंक्ति—

कहिं मि वज्झ रियखलखलियजलवाहला कसणतणुनाहला। ५. ८. २१.

में 'नाहल' का अर्थ म्लेच्छ किया गया है। उक्त पंक्ति का अर्थ किया गया है—कहीं खल-खल करके मरते हुए जल के छोटे-छोटे प्रवाह थे और कहीं काले शरीर वाले म्लेच्छ थे।

प्रसंगतः यह विन्ध्याटवी का वर्णन है। इस में बतलाया गया है कि कहीं गिरिमेखला पर गज व क्रुद्ध सिंह गर्जन कर रहे थे, कही शस्त्रों से आहत बाघों की चिंघाड़ से अटवी गूंज रही थी, और कहीं नील गाय विदीर्ण कर दी गयी थी, कहीं घुरघुराते हुए बनैले सुअरों की दाढों से उखाड़े हुए कन्द सूख रहे थे। कही हुंकारा भरते हुए शक्तिशाली महिषों के सींगों से आहत हुए वृक्ष गिर गये थे, कहीं लम्बी चीत्कारें छोड़ते हुए बन्दर दौड़ रहे थे। कही घू-घू करते हुए सैकड़ों उल्लुओं की आवाज से रुष्ट हुए कौवे कांव-कांव कर रहे थे, कहीं सुंगरियो के फीत्कार से आह्वान किये हुए सुअर पकड़े जा रहे थे, कहीं खल-खल करते हुए जलभरित झरने थे, और कहीं काले (चितकबरे) चीते थे।

'महापुराण' में 'णाहल' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित रूप में हुआ है—

कत्थइ झरझरियइं णिज्झरइं कत्थइ जलभरियइं कंदरइं।
कत्थइ बीणियबेल्लीहलइं दिट्ठइं भज्जंतइं णाहलइं। १५. १. ८-९

यह भी सिन्ध सर के सघन वन के वर्णन के प्रसंग में वर्णित है। घनी अटवी का वर्णन इस प्रकार है—

कहीं पर झर-झर कर झरने बह रहे थे, और कहीं पर कन्दराओं में जल भर गया था, कहीं पर बिम्बीफल झूम रहे थे, भागते हुए चीते दिखाई पड़ रहे थे। कहीं पर हिरन छलांगें भर रहे थे।

इस प्रकार उक्त दोनों स्थलों पर 'नाहल' तथा 'णाहल' शब्द का प्रयोग चीते के अर्थ में हुआ है। किन्तु 'पाइअ-सद्द-महण्णव' में म्लेच्छ अर्थ सम्भवतः प्राकृत साहित्य के किसी पहाड़ी जाति के लिए आगत जान पड़ता है। महापुराण के टिप्पण में श्री प्रभाचन्द्र ने 'शबर' अर्थ लिखा है। उक्त पंक्ति के टिप्पण में अंकित है—

णाहलइं शबराः (महापुराण १५. २१. ९)

किन्तु यह विचारणीय है कि वन-पशुओं के वर्णन के प्रसंग में शबर कहाँ से आ गया ? उक्त दोनों ही उद्धरण इतने स्पष्ट एवं स्फीत हैं कि सरिता के तट पर सघन वन की जो स्वाभाविक सुषमा होती है, उसे ही प्रकट करने वाले हैं। वन पशुओं के प्रसंग में 'णाहल' का अर्थ व्याघ्र या चीता उपयुक्त प्रतीत होता है। पुष्पवन्त के महापुराण में एक अन्य स्थल पर भी इसका प्रयोग मिलता है। पंक्ति निम्नलिखित है—

उड्डावियइं कोइलकुलइं भयतसियइं रसियइं णाहलइं १३. ११. ६

प्रसंग है—राजा भारत दिग्विजय के हेतु मालवा होते हुए दक्षिण के देशों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए विजयार्द्ध पर्वत के निकट पहुँच गये। वहाँ पर गुफा के द्वार से दूर तक डेरा डाला। राजा की षडंग सेना ने वहाँ आवास किया सरोवर भैंसों के झुण्डों से मर्दित हो कीचड़युक्त दिखलाई पड़ रहे थे। पके हुये फलों का स्वाद लिया जा रहा का, शाद्वल हरी-हरी घास काटी जा रही था उड़ाया हुआ कोकिल वृन्द भय से त्रसित था

चीते दहाड़ रहे थे। सैकड़ों झुण्डो में दसों दिशाओं में चिंघाड़ते हुए हाथी इधर-उधर घूमते फिर रहे थे।

इन प्रसंगों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि नाहल या णाहल का अर्थ शबर या म्लेच्छ न होकर बाघ या चीता है। पुष्पदन्त प्रभाचन्द्र के टिप्पण के अतिरिक्त एक टीका और मिली है, जिसमें 'णाहल' का अर्थ 'व्याघ्र' किया गया है, जो उचित है। शब्द के विकास की दृष्टि से भी देखें तो यह शब्द—

णाहल > णाहर > नाहर

आज भी 'नाहर' शब्द एक विशेष प्रकार के बाघ के अर्थ में देश के कई भागों में प्रचलित है। अतएव मेरी दृष्टि में 'णाहल' का अर्थ चीता होना चाहिए। यद्यपि प्राकृत के सब से बृहत् कोश 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में भी णाहल का अर्थ म्लेच्छ विशेष है, किन्तु मूल से वह 'लाहल' शब्द है। कहा गया है—

णाहल—लाहल न०। 'लाहललाङ्गललाङ्गूले वा देर्णः' ८।१।२५६
इत्यादेर्लस्य वा णः। म्लेच्छविशेषे। (अभि० को० पृ० २०१६)।

णाहल शब्द 'णाह' से व्युत्पन्न हुआ है; और उसका अर्थ वन का स्वामी नाहर तथा जम्बूस्वामीचरित के सन्दर्भ के अनुसार, चीता है।

कलहोड—यह शब्द वीर कवि विरचित 'जम्बूस्वामीचरित' में मिलता है। इसका प्रयोग निम्नप्रकार से हुआ है—

कल्होडवइल्लें जायरेल्लु संघाडुल्लालिउ गयउ तेल्लु। ५. ७. २३

इस का अर्थ किया गया है—दुष्ट बैल के द्वारा (तैलवाहक बैलों की) जोड़ी को लात मार देने से तेल नष्ट हो गया।

इस अर्थ में 'दुष्ट बैल' के साथ जुड़ा हुआ दुष्ट विशेषण अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि 'कल्होड' का अर्थ दुष्ट नहीं है। डॉ० विमलप्रकाश जैन ने अनुवाद करते समय 'दुष्ट' अर्थ किया, पर शब्दकोश के अन्तर्गत लिखा हुआ है—

कल्होड (दे०)—वत्सतर, बछड़ा (जंबूसामिचरिउ, पृ० ३०५)

यह स्पष्ट है कि उक्त 'कल्होड' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है, किन्तु यहां उसका अर्थ दुष्ट या बछड़ा नहीं है। 'वत्सतर' का अर्थ संस्कृत-कोशों में क्षुद्र वत्स है, परन्तु क्षुद्र वत्स का अर्थ दुष्ट नहीं होता। वाचस्पत्य कोश में इसका विवरण इस प्रकार है—

वत्सतर पुं स्त्री क्षुद्र वत्स. अल्पत्वे तरप्। क्षुद्रवत्से।
अप्राप्तदशनकाले गवादौ अमरः स्त्रियां ङीप्। वत्सतरी। (पृ० ४८४४)

वस्तुतः 'कल्होड' शब्द देशी है, इसलिये प्राकृत के शब्द-कोशों में यह नहीं मिलता।

में देशी नाममाला से सकलित किया गया है उसमे इसका वत्सतर अर्थ ही किया गया है। कहा भी है—

कल्हौडी वच्छयरे बगम्मि कंडूरकाउल्ला। देशी० २, ६।

'वत्सतर' का अर्थ क्षुद्र वत्स न होकर जवान बछड़ा है और इससे भी स्पष्ट अर्थ है—गाडी, हल आदि में जोतने योग्य बैल। अभिधान चिन्तामणि में भी यही अर्थ है। कहा है—

वत्सः शकृत्करिस्तर्णो दम्यवत्सतरौ समौ। ४, ३२६।

अल्पावस्था वाले बछड़ा-बछियों को वत्स, शकृत्करि तथा तर्ण कहते है, तथा जुतने योग्य बैल को दम्य और वत्सतर कहते हैं। अतः यहाँ 'कल्हौड' का अर्थ जोतने योग्य बैल है; दुष्ट बैल नहीं। अधिक से अधिक हम उन्हें युवा बैल कह सकते हैं। हमारे अर्थ की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास की शब्दावली से भी होती है। कवितावली की पंक्तियाँ हैं—

सोहै सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलौरे।
मानों हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलौरे।।१४४।

उक्त 'कलौरे' शब्द जवान बछड़े के लिए प्रयुक्त हुआ है। शब्द के विकास की दृष्टि से कलोरा शब्द 'कल्होड' का विकसित रूप है।

कल्होड > कल्लोड > कलोड > कलोर

पिल्लिक्खिरिण

यह शब्द 'करकण्डचरिउ' में मिलता है। जिस पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वह इस प्रकार है—

पिल्लिक्खिरिण फॅंफरि उंबरी वि जो वज्जइ बह पंचुंबरी वि। ६. २१. ५

डॉ० हीरालाल जैन ने इस का सम्पादन करते हुए समस्त शब्द को व्यस्त कर दिया है। 'पिल्लिक्खिरिण' एक शब्द है, न कि दो। आदरणीय डॉ० जैन ने इसे भ्रमवश दो शब्दों के रूप में विश्लेषित किया है, जिससे अर्थ में विसंगति आ गई है। उन्होंने इसका अर्थ किया है—

'फिर जो कोई मद्य, मांस, मधु, नवनीत (मक्खन), बड़, पीपर इनका त्याग करता है एवं पिल्ली, खिरनी, फॅंफरी व उदुम्बरी आदि पाँच उदुम्बरों को छोड़ता है (वह श्रावक है)।'

यह गृहस्थ के आठ मूलगुणों का प्रसंग है। सामान्यतः मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरों (बढ़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर) के त्याग को अष्ट मूल गुण कहा गया है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।

उक्त प्रसंग में 'णवणियाहं' तथा 'पिल्लिक्खिरिण' का नवनीत और पिल्ली, खिरनी अर्थ उचित नहीं है पिल्लिक्खिरिण एक शब्द है और इसका अर्थ पिलखन है पिलखन पाकर के पेड़ को कहते हैं संस्कृत में इसे प्लक्ष पर्कटी और जटी भी कहते हैं

पिलखन शब्द 'प्लक्षिन्' का विकसित रूप जान पड़ता है। आज भी पिलखन शब्द पाकर के लिए प्रचलित है। फिर, खिरणि का खिरनी अर्थ अपभ्रंश के किसी काव्य में नहीं मिलता इसलिए पिल्लिक्खिरणि का पाकर अर्थ समुचित प्रतीत होता है। उदुम्बरी का अर्थ यहाँ गूलर से है। और फँफरी का अर्थ मेरी समझ से जघनफल अर्थात् कठूमर होना चाहिए।

कतिपय टिप्पणों के अर्थ पर विचार—

अहिट्ठिय

पउमचरिउ की दूसरी सन्धि के प्रथम कडवक में चौथी पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके टिप्पण में 'हर्षित' अर्थ किया गया है। यह शब्द संस्कृत के अधिष्ठित से विकसित हुआ है। 'अधि' पूर्वक 'स्था' धातु से अधिष्ठान और अधिष्ठित निष्पन्न होते है। जम्बूसामिचरिउ में कई स्थानों पर तथा महापुराण में कई स्थलों पर यह शब्द प्रयुक्त है। इसके विभिन्न अर्थगत प्रयोगों पर विचार कर लेना संगतिपूर्ण होगा। पुष्पदन्त के महापुराण में एक स्थल पर इसका अर्थ 'सहित' किया गया है। (अहिट्ठियउ सहितम्, म० पु० १५. २१. ९)। जम्बूसामिचरिउ की पंक्ति है—

जहिं देसि न निट्ठउ ताउ अहिट्ठिउ तहिं उज्जलउ-सुवण्णु जइ। ४. १३. १६

यहाँ अधिष्ठित अर्थ में प्रयोग हुआ है। अन्य स्थलों पर भी इसी अर्थ में प्रयोग परिलक्षित होता है। 'पाइअसद्दमहण्णव' में भी यह अर्थ दिया हुआ है। अतएव अहिट्ठिय का अर्थ अधिष्ठित है, हर्षित नहीं। यदि 'अहिहट्ठिय' शब्द होता तो 'अत्यन्त हर्ष' अर्थ हो सकता था, क्योंकि संस्कृत के 'हृष्ट' के लिए 'हट्ठ' शब्द मिलता है। इसलिये या तो 'हट्ठिय' प्रयोग होगा, अन्यथा अहिहट्ठिय। अर्द्धमागधी कोश में भी अहिट्ठिय शब्द का अर्थ अधिष्ठित है। इस प्रकार व्युत्पत्ति तथा शब्द-प्रयोग एवं कोशगत अर्थ की दृष्टि से अधिष्ठित अर्थ ही मान्य होगा।

टिप्पणगत अर्थों के सन्दर्भ में 'पउमचरिउ' के एक प्रसंग का उल्लेख करना अनुचित न होगा। भोजन का वर्णन करते हुए महाकवि स्वयम्भू कहते है—

रद्धु भत्तु लइ लेविणु आयउ णं सरसइ—लच्छिउ विक्खायउ।
वड्ढिउ भोयणु भोयण-सेज्जए अच्छए पच्छए लण्हए पेज्जए।
सक्कर-खंडेहिं पायस-पयसेहिं लड्डुव—लावण गुड—इक्खुरसेहिं।
मण्डा-सोयवत्ति—घियऊरेहिं मुग्ग—सूअ—णाणाविह कूरेहिं।
सालणएहिं बहु विविह विचित्तेहिं माइणि-मायन्देहिं विचित्तेहिं।
अल्लय—पिप्पलि—मिरियामलएहि लावण-मालूरेहिं कोमलएहिं।

चिंचिभडिया—कचोर—वासुत्तेहिं पेउअ—पप्पडेहिं सु—पहुत्तेहिं। ५०. ११. ३-९

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

रंधा हुआ भात लेकर वे आईं। वे विख्यात सरस्वती और लक्ष्मी के समान जान पड़ती थीं उन्होंने भोजन की थाली में सुन्दर सूक्ष्म पेय के साथ भोजन परसा शक्कर

खीर, दूध, लड्डू , नमक, गुड़, इक्षुरस, मिठाई, मंडा, सोयवत्ती, घेवर, मूँग की दाल, तरह-तरह के और विचित्र शालन, विचित्र माइंद और माइण फल, चिरमटा, कचोर, वासुत्त, पेउअ, पापड़, (इसके आगे है) केला, नारियल, जम्बीर, करमर, करौंदा, करीर तरह-तरह की कढ़ी, खटमिट्ठी साउब भाजी तथा और भी खांड़ और गुड़ का सोरबा, वडवाइण, कोरेल्ल, मही, दही और खीर से सहित व्यंजन तथा बघारे हुए कांजीर और सौवीर उस भोजन में थे।

यहाँ पर सर्वप्रथम 'वड्डिउ' शब्द विचारणीय है। टिप्पण में इसका अर्थ 'परोसितः' तथा हिन्दी अनुवाद 'परसा' किया गया है। सामान्य रूप से वड्डिउ का अर्थ वर्धित–बढा हुआ है। अर्द्धमागधी कोश में वड्डिय के तीन अर्थों का उल्लेख मिलता है—उपज, भाक्क और वृद्धि। पउमचरिउ में कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है और अधिकतर स्थानों पर इसका बढाया हुआ अर्थ लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

देवासुर बल सरिसइं वड्डिठ हरिसइं कंचुय–कवयविसट्टइं।

तथा—

अभिट्टइं वड्डिय कलइं, भरहेसर बाहुवली बलाइं। ४ ७ १० तथा ४ ८ १।

यहाँ 'वड्डिउ' का अर्थ परोसा न होकर बढ़िया है, जो भोजन का विशेषण है। अतएव अर्थ होगा—बढ़िया भोजन सिद्ध किया गया (पकाया गया)। स्वच्छ पथ्य तथा चिकने पेय तैयार किये गये। 'लण्ह' का अर्थ सूक्ष्म न होकर चिकना है। इसी प्रकार अगली पंक्तियों में—

विंजणेहिं स महिय–दहि–खीरेहिं सिहरिणि–धूमवत्ति–सोवीरहिं। ५०. ११. १३

जिस प्रकार टिप्पण में 'वड्डिउ' का अर्थ परोसा गया तथा 'लण्ह' का अर्थ सूक्ष्म गलत है उसी प्रकार 'सिहरिणि' का अर्थ बघारा हुआ तथा 'धूमवत्ति' का अर्थ कांजी गलत किया गया है। और इन टिप्पणों के आधार पर हिन्दी अनुवाद अशुद्ध हो गया है। वास्तव मे ३ सिहरिणि की संख्या ३ धूमवत्ति की होनी चाहिए थी और ४ धूमवत्ति की संख्या ४ सोवीर की होनी चाहिए थी। क्योंकि धूमवत्ति का अर्थ हींग से बघारा हुआ है और सोवीर का अर्थ कांजी है। डॉ० हीरालाल जैन ने 'णायकुमारचरिउ' के शब्दकोश में सउवीर–सौवीर (बटर–मिल्क, पाइअलच्छी०, २६८) का अर्थ मट्ठा, तक्र किया है, जो ग़लत है। (दे० पृ० १६७)। पाइअलच्छी का पाठ है—

सोवीरं आरनालं, नेहो चिम्मं रसोय अणुराओ।

आरनाल का तथा सौवीर का अर्थ सभी संस्कृत तथा प्राकृत कोशों में 'कांजी' है—काञ्जिकं काञ्जिकं धान्याम्लारनाले तुषोदकम्।

तथा : महारसं सुवीराम्लं सौवीरं ऋक्षणं पुनः।

अ मधानचिंतामणि। ३, ७६–८०।

इसी प्रकार के अन्य टिप्पण भी हैं, जिनके कारण कहीं-कही अर्थ का अनर्थ हो गया है।

उदाहरण के लिए पउमचरिउ के अन्य टिप्पण इस प्रकार हैं—

मालूर

'हे मालूर-पवर पीवर-थणे कुवलय-दल पफुल्लिय-लोग्रणे । ३१. १. ६

मालूर का अर्थ टिप्पण में 'बिम्बफल इव' दिया हुआ है। किन्तु यह अर्थ ग़लत है। स्तन की उपमा बिम्बफल से नहीं दी जाती। स्तन के लिए प्राय: बेल उपमान प्रयुक्त किया गया है। अतएव मालूर के कोशगत कैथ तथा बेल फल इन दो अर्थों में से बेल का फल ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ स्पष्ट रूप से मालूर का अर्थ बेल का फल है। एक अन्य स्थल (४. १३. २) पर मालूर का अर्थ टिप्पण में भी 'बिल्वफलवत्' लिखा हुआ मिलता है।

टालिउ

टिप्पण में इसका अर्थ शतखण्ड लिखा हुआ मिलता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पउमचरिउ की पंक्ति है—

केण पहञ्जणु वद्धु पडेण मेरु महागिरि टालिउ केण । ३१. ६. ८

इस पंक्ति का अर्थ है—वस्त्र से प्रभंजन (पवन) को कौन बाँध सका है और सुमेरु पर्वत को कौन हटा सका है ?

एक अन्य स्थल पर भी सुमेरु को हटाने के अर्थ में 'टालइ' शब्द का प्रयोग मिलता है। देखिए—

मेरु वि टालइ वद्धामरिषु तहो अरणु णराहिउ तिणसरिसु ।

पउमचरिउ के शब्दकोश में भी 'टाल' का अर्थ हटाना (गुजराती टालवु) है। अतएव हटाना या खिसकाना अर्थ उचित है।

रङ्खोल

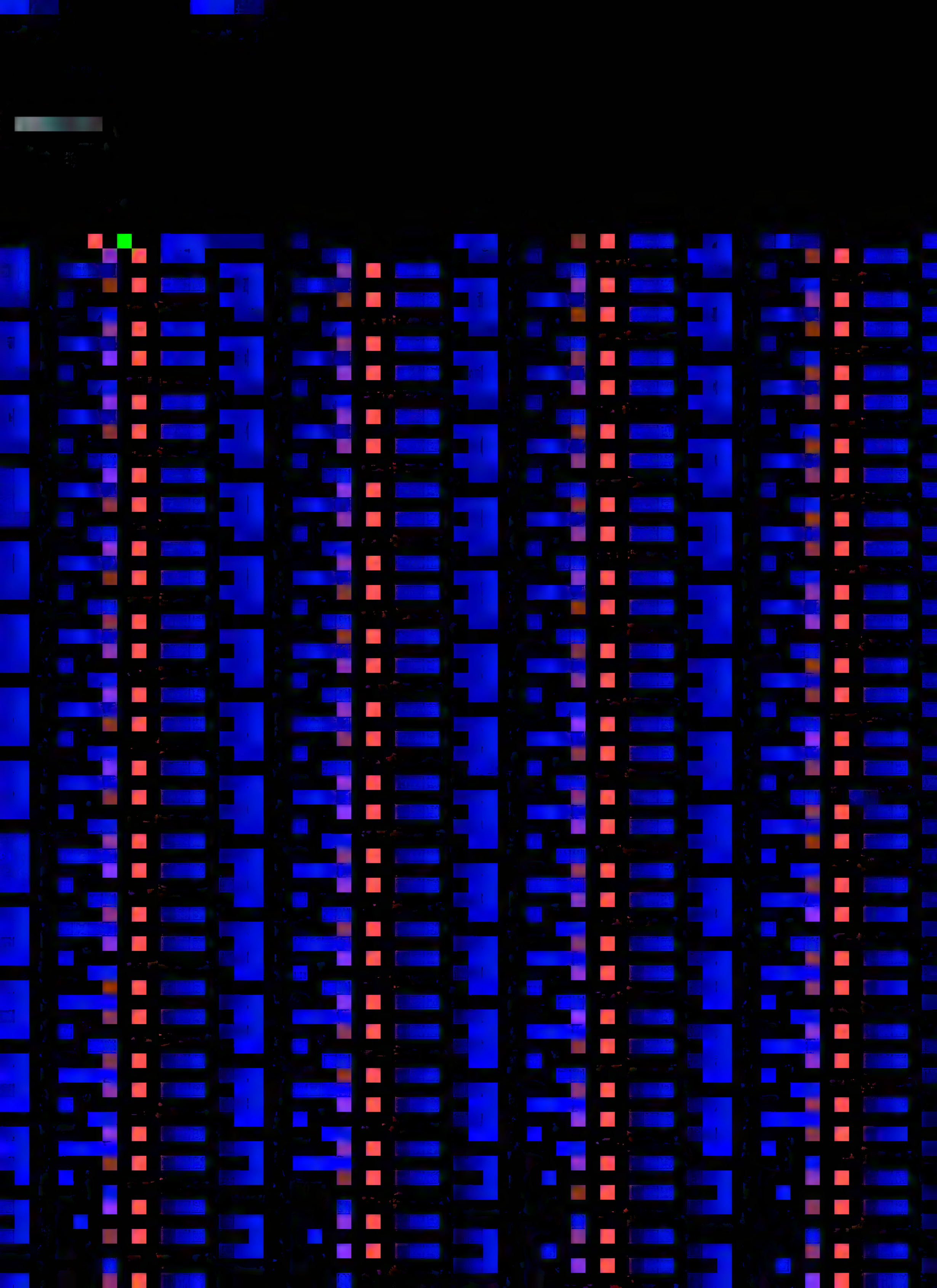
पउमचरिउ की एक पंक्ति है—

जो डिण्डीर णियरु अन्दोलइ णावइ सो जे हारु रङ्खोलइ । १४. ३. ७

इसकी टिप्पणी में 'रङ्खोलइ' का अर्थ 'विलासति' किया गया है। किन्तु रङ्खोल शब्द दोलय का समानार्थी है। अतः इस का अर्थ है—झूलना। प्राकृत के शब्दकोशों में यही अर्थ मिलता है। उक्त पंक्ति में तथा दो अन्य स्थलों पर प्रयुक्त शब्द का भी यही अर्थ है। स्वयं टिप्पणकार ने निम्नलिखित पंक्ति में आगत—

तवलय माला-रङ्खोलिराइं मरगय-रिञ्छोलि-पसोहिराइं ।

'रङ्खोलिराइं' शब्द के टिप्पण में लिखा है—आन्दोलिता (नि)। अतएव रङ्खोल का अर्थ झूलना उचित है। अभी तक हमारे देखने में जहाँ-जहाँ भी यह शब्द आया है, वहाँ आन्दोलित या झूलने का अर्थ ही लक्षित होता है। अपभ्रंश के प्रकाशित तथा अप्रकाशित लगभग दर्शक ग्रंथों में यह शब्द 'झूलने' अर्थ में मिलता है।



उक्त टिप्पणों के अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द है जो प्राकृत शब्दों से अर्थ में भिन्न हैं। यही नहीं, निम्नलिखित ऐसे शब्दों की सूची प्रस्तुत है, जो प्राकृत कोशों में लक्षित नहीं होती। ऐसे शब्द हैं—

१ छिब्बर — चपटी (पउम चरिउ १ २ ११)
२ चुम्भल — शेखर (प० च० १७ १२ २)
३ जालोलि — ज्वालावली (प० च० ८ २ ६)
४ णियासण — निवसन (प० च० ६ १४ ४)
५ णियल — निगड (प० च० १ ५ ६)
६ णियच्छिय — निअच्छ हुए (प० च० १९ ९ ९)
७ ढोर — पशु (प० च० २ ७ ३)
८ णाइसप्प — नैसर्प (प० च० ४ ६ ६)
९ जिणाल — जिनालय (प० च० ६ २ ५)
१० डोह — क्षोभ (प० च० २ १३ ४)
११ लंजिया — दासी (प० च० २३ ४ २)
१२ रसय (रसक) — मद्य-भाजन (प० च० २६ ७ ६)
१३ सरुंजा वाद्य विशेष (प० च० ४० १७ ४)
१४ सोयवत्ति — मिष्ठान्न विशेष (प० च० ५० ११ ६)
१५ मुसुमूर — चूर्ण, चूरन (प० च० ३८ ६ ५)
१६ टिविल — ढुलकिया, छोटी ढोलक (प० च० २४ २ २)
१७ आडोह — विलोडन (प० च० २६ ७ १)
१८ खडक्क — पर्वत (प० च० ३१ ३ ६)
१९ ढेक्कार — गर्जना, डकारना, दलांकना (प० च० २४ १३ ४)
२० भज्जिय — भाजी, पत्ती वाली शाक (प० च० ५० ११ ११)
२१ पत्तिय — पत्नी (प० च० ४९ २० ६)
२२ तुणव — भेरी (प० च० २६ १४ ३)
२३ जूरवणी — सन्तापदायिनी (प० च० ४१ ४ ४)
२४ आयल्लिय — पीड़ित (प० च० २७ ३ ७)
२५ आहुट्ठ — अर्द्ध चतुर्थ (प० च० ४० १८ १०)
२६ गत्तल — गर्त (प० च० ४६ ७ ७)
२७ अवलुय — खेद (प० च० २० ११ ४)
२८ घोट्टिउ — घोंट डाला (प० च० ४९ ४ ६)
२९ गिल्ल — हौदा (प० च० ४९ १३ ७)
३० वाउलि — पक्षी विशेष (प० च० २७ १५ ५)
३१ पाणियहारि पनिहारी (प० च० २४ १ ९)
३२ बल वृषभ, बैल प० च० २७ १७ ३२

३३ लोणिय — नवनीत, लोनी (प० च० ३७ १ ५)
३४ मूडिय — त्रुटित, भंजित (प० च० २४ ७ ५)
३५ हलुवारय — लघुतर (प० च० ३४ १३ १)
३६ हेवाइय — गर्वित (प० च० ५६ १० ९)
३७ चिक्कमइ — जाता है (प० च० ५६ १४ ४)
३८ रह — रथ्या, मार्ग गली (प० च० ५६ १४ ६)
३९ पारक्क — शत्रु जन (प० च० ५६ १० ९)
४० भंसी — वृक्ष विशेष (ज० च० ५ ८ ७)
४१ विटलटल · गठरी (जम्बू० च० ११ ६ ३)
४२ थार — चील (ज० च० ७ १ १२)
४३ णण्ह — स्निग्ध (क० च० ८ २ ६)
४४ टेवंत — तेज करना टेना (क० च० १० १९ ८)
४५ पेइया — पेटिका (क० च० १ ७ २)
४६ फैंफरि — फल विशेष (क० च० ९ २१ ५)
४७ परिणडिअ — वंचित (क० च० ३ २१ ४)
४८ हउं — हौं (व्रज) मैं (क० च० २ ५ ८)
४९ हिलहिलंत — हींसना, हिनहिनाना (क० चं० ३ १३ ४)
५० सूय — सूत (संस्कृत), पारद (क० च० ९ ६ ६)
५१ वेल्लंत — व्याकुल होना (क० च० ५ ११ १४)
५२ लवेल्लि — ललक पूर्वक (क० च० ८ ७ ८)
५३ बीसढु — बीभत्स (म० पु० ७ १२ ८)
५४ अलियल्लि — व्याघ्र (म० पु० १५ १३ ३)
५५ ढेक्क — दहाड़ (म० पु० ३ ५ १०)
५६ तंडउ — टोली, जत्था (म० पु० १६ २२ ८)
५७ वियाल — विकाल, संध्या (महापुराण-पुष्पदन्त)
५८ केया — वरत्रा, हाथी कसने का रस्सा (म० पु० १२ ११ ५)
५९ विड्डुम — भय (म० पु० १८ १३ १)
६० विसंभर — कोरी, जुलाहा (म० पु० ३१ १७ १२)
६१ सल — चिता,शवशयनस्थान (म० पु० २३ ८ ६)
६२ समलहण — समालम्भन (विलेपन) (म० पु० ३ ४ ७)
६३ हेडि — श्रृङ्खला (म० पु० ७ १३ ८)
६४ हवाइद्ध — कुपित (म० पु० ३२ २० ४)
६५ सेहीर — सिंह (म० पु० २५ ३ ५)
६६ झंपड — अर्द्ध नेत्रोन्मीलन (म० पु० १२ १० ५)
६७ चिलिव्विल बीभत्स म० पु० २० १० ३१ प० च० ५४ ११ १

६८ खेउ — आलिंगन (म० पु० २९ १९ २)
६९ डावि — मुद्रिका, अंगूठी (म० पु० ३५ ५ ३)
७० णिययणी — रस्सा (म० पु० २५ १८ १२)
७१ दवट्टि — शीघ्र (म० पु० २९ ६ ३)
७२ णोहीर — कुंकुम (म० पु० २५ ९ १२)
७३ तक्कारि — सारथि (म० पु० १२ १३ ९)
७४ तियाउस — भस्म (म० पु० २७ २२ ९)
७५ तिडिक्क — स्फुलिंग (म० पु० ३७ ३१ १०)
७६ तालवट्ट — पुच्छ (म० पु० ३४ १० १५)
७७ सुय — श्री (म० पु० ३४ १ ६)
७८ वट्टप — अतिशय, अत्यन्त (म० पु० ३२ ११ १३)
७९ लूया — कोरी, जुलाहा (म० पु० ३१ १० ९)
८० तोंतडिल्ल — मिश्रित (म० पु० २८ १ ५)
८१ चंचेल — वक्र, टेढ़ा (म० पु० २३ ४ ९३)
८२ मउंद — मृदंग (म० पु० २२ ८ ८)
८३ अवठाण — कायोत्सर्ग (म० पु० २१ ७ १)
८४ दुवालि — अन्याय (म० पु० २० २४ १०)
८५ सोणारि — शृङ्गाल (म० पु० २० २१ १)
८६ णिहाउ — समूह (म० पु० २० २२ १२)
८७ कुयल — भूतल (म० पु० २० ३ ९)
८८ तुंदाहि — गण्डूपद, केंचुआ (म० पु० ७ १२ ७)
८९ वेंट — वृन्त (म० पु० ४ ११ १२)
९० पासुय — प्रासुक, शुद्ध (म० पु० ९ ७ ४)
९१ मेल — अति वृद्ध, बहुत बूढ़ा (म० पु० २९ २५ १२)
९२ भल्लारअ — भला, उत्तम (म० पु० ७ १७ ११)
९३ चौवाण — यष्टि, लाठी (म० पु० १ १६ १०)
९४ चेंचइय — अलंकृत (म० पु० ३ २ ४)
९५ चंदकव — मयूर, मोर (म० पु० १३ ७ १०)
९६ डुंग — समूह (म० पु० ९ २ २७)
९७ थेंम — बिन्दु (म० पु० ३ १४ २०)
९८ पेल्लावेल्लि — सम्भ्रम (म० पु० ९ १८ १६)
९९ पालिद्धय — झंडी (म० पु० १२ ६ ४)
१०० दडत्ति — शीघ्र (धड़कन ?) म० पु० ९ १३२)
१०२ लाणि मर्यादा म० पु० ४ ५ १४
१०३ पाउरि गादी म०पु० ६ १ ६)

इस प्रकार के अनेक शब्द महाकवि पुष्पदन्त रचित 'महापुराण' में है। सम्भव है, इनमें से कई शब्द 'देशी नाममाला' या 'पाइयलच्छीनाम या भिन्न अर्थ में देखने को मिल जायँ, किन्तु अधिकतर शब्द नये टकसाली से आगत हैं। कतिपय शब्द-संस्कृत की काव्य-परम्परा से समागत हैं। ऐसे भी कम नहीं है, जो आर्येतर भाषाओं के कहे जाते हैं। विशेष कर महापुर प्रचुर हैं, जो द्रविड़ भाषाओं के हैं। उनमें से कुछ शब्द 'देशी नाममाला' में प्राकृत बोलचाल की भाषा होने के कारण अनेक देशी प्रवाहों के शब्द सहज व्यवहृत होते आ रहे हैं।

अपभ्रंश में द्रविड़ भाषाओं के शब्द :

पोट्ट — उदर (म० पु० ६ ८ १५, २७ ९ २) द्रविड़ पोट्ट
पुल्ली — व्याघ्र (म० पु० २५ १६ ४) द्रविड़ पुली
ससंडि, पसंडी — स्वर्ण (म० पु० ९ ७ १, २८ २ ८) तेलुगु पसिडि
तुप्प — घृत (म० पु० २६ १ ५) द्रविड़ तुप्प, मराठी तूप
णेसर — रवि (म० पु० १ १ १) कन्नड़ नीसड़, तमिल नायिर
तलवर — नगर रक्षक (प० च० १७ १८ ४) द्रविड़ तलेयारि
केया — रस्सा (म० पु० १२ १ १५) द्रविड़ कयर
अक्क, अक्का — भगिनी, माता (क० च० ८ ५ ५, म० पु० १६ २५ १
अम्म — माता, अम्ब (जम्बू० च० ९ २७ ६) द्रविड़ अम्म
कुरुल — कुटिल (जम्बू० च० ४ १५ ८) द्रविड़ कुरुल
चिच्चि - अग्नि (क० च० १ १७ ७) द्रविड़ किच्चु, चिच्चु
कोट्ट — नगर (जम्बू० च० ५ ११ २) द्रविड़ कोट्ट
चेंडुअ — कन्दुक, गेंद (जम्बू० च० १ ६ ९) द्रविड़ चण्डु
पाव — सर्प (प० च० ३४ २ ६) द्रविड़ पामु, पाव
मंट — विलांग (प० च० ३४ २ ६) तमिल मोट्टइ
मेर — मर्यादा (क० च० १ २४ ६) तेलुगु मेर
माम — मामा (क० च० ११ १० १०, प० च० १३ २ १०) द्रविड़ माम
किडी — शूकर (म० पु० २१ ६ ८)
किडि — सूकर (हेमप्राकृत व्याकरण), द्रविड़ किड्डु
सेट्ठि — सेठ, गांव का मुखिया, द्रविड़ शेट्टि
मट्ठ, मट्ठर — मन्द बुद्धि, आलसी, द्रविड़ मड्डि
कुरुड — क्रूर, निर्दय (प० च० २५ १८ ७) द्रविड़ कुरुड
झड, झडी — निरन्तर वृष्टि, द्रविड़ जडी
कुडि कुटी घर (जम्बू० च० ९ १० २) तमिल कुडि

इस प्रकार के कई अन्य शब्द भी द्रविड़ भाषाओं के अपभ्रंश में मिलते हैं, सब का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है, वह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। केवल शब्द ही नहीं, कुछ मुहावरे तथा प्रत्यय भी द्रविड़ भाषाओं के मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में परिलक्षित होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी दृष्टिगत हैं, जिनका अर्थ सन्दिग्ध है, किन्तु जो अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त हैं। ऐसे शब्द निम्नलिखित हैं :—

कवड — पुरवा (जम्बू० च० ८ १३ १५)
केर — सेवा (क० च० ३ १० ९)
डालिया — बाली (जम्बू० च० ५ ९ १०)
ओहट्टइं — सूखते (जम्बू० च० ५ ९ ७)
खंत — स्कंध, खादन्तः (क० च० १ ३ ८)
रंगणडा — ? (म० पु० ७ २० ५)
गिल्ल — गिल (म० पु० ४ ७ ९)
सेढा — पशु विशेष (म० पु० ७ ६ ७)
सरह — पशु विशेष (म० पु० ७ ६ ७)
झंसी — वृक्ष विशेष (जम्बू० च० ५ ८ ७)
वंदणु — वृक्ष विशेष, पीपल ? (म० पु० ७ १० ८)
चिरिहिल्ल — वृक्ष विशेष (जम्बू० च० ५ ८ ८)
वेइल्ल — वेइल्ल, वेला पुष्प (जम्बू० च० ४ १९ १६)
तवंग — छज्जा (जम्बू० च० ४ १९ १६)
मंदमार — वृक्ष विशेष (जम्बू० च० ४ २१ ३)
कुक्खि — इन्द्रगोप, बीरबहूटी (म० पु० १० ११ १४)
णिद्धउ — स्नेही या पुष्ट (म० पु० १८ ९ ३)
पिसल्लय — ग्रन्थिल (म० पु० २० ३ ५)
अणिहणु — अविनाशी (म० पु० २० ३ ८)
खोल्ल — बृहत् (म० पु० २ १३ ९)
घोणसउ — सर्प (म० पु० ३१ २१ ६)
तम्म — तात (म० पु० २८ ९ ७)
ओइल्ल — प्रथम ग्रैवयेक (म० पु० २७ १० २)
वंठ — गोवाल (म० पु० २९ १८ ५)
पिडउल्लउ — ग्रन्थिल (म० पु० ३२ २० १५)

इस प्रकार के अनेक शब्द महाकवि पुष्पदन्त के केवल महापुराण में ही परिलक्षित होते हैं। भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य में महापुराण एक विशिष्ट काव्य-कृति है। भाषागत अध्ययन की विविध प्रवृत्तियाँ एक साथ उक्त महाकाव्य में समाहित हैं और इस दृष्टि से उसका अनुशीलन शोध एवं अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। अभी तक इस दिशा

म काय नही हो सका है। महापुराण के भाषावैज्ञानिक अध्ययन से उस युग गत विभिन्न प्रवृत्तियां स्पष्टतया विवेचित हो सकेंगी।

महापुराण के अतिरिक्त अपभ्रंश के हस्तलिखित तथा अप्रकाशित कई ग्र मे ऐसे शब्द मिलते हैं, जो अन्य काव्य-कृतियों में तथा कोशों में नहीं मिलते। ऐसे शब्दों की सूची निम्नलिखित है—

मट (सुदंसणचरिउ ६ ११)
फरिय (सु० च० ५ २१)
गोल्ली (सु० च० ४ ६)
टरटर (सु० च० ८ १९)
छुट्ठ (सु० च० ६ ११)
घवघव (सु० च० ३ ७)
ममण (सु० च० ३ ७)
थडा (सु० च० २ १३)
झडा (सु० च० २ १३)
रिट्ठी — कागुली (सु० च० ४ ५)
डेढा (सु० च० ३ ७)
छेरइ — छिनत्ति (सु० च० ६ ११)
घुग्घुर (सु० च० ३ ७)
सल्लइ (सु० च० ४ ६)
णीउ–नीच (जिनदत्त चरित-लाखू, १ ८)
खणरूवा-विद्युत् (जि० च० ५ ६)
हीर — अधीर (जि० च० ४ ५)
पायल–शेष (जि० च० ४ ३)
मल्हाविय — भ्रमित (जि० च० ४ ३)
विच्छिड्ड — निरन्तर (जि० च० ३
फर — खेड़ा, गाँव (जि० च० ३ ३१)
सीयर–स्वीकार (जि० च० ३ ३०)
बालुंखिव–भयचकित (जि० च० ३ २७)
कंधर — मेघ (जि० च० ३ २५)
विसउ — विश्रुत, प्रसिद्ध (जि० च० ३ २५)
तिमिय–मत्स्य (जि० च० ३ २५)
अलयद्द — सर्प (जि० च० १ ११)
उक्कोविय — उद्घाटित (जि० च० १
वणफणि — मयूर (जि० च० २ १५)
मुसुरु — ताम्बूल (जि० च० २ १७)
णिहुवउ — मौन (जि० च० ३ १०)
वरु — श्रेष्ठ (जि० च० ३ १२)
वरटियाल (सिद्धचक्रकथा-नरसेन १ १ १)
जण्णवास — जनवासा (सि० क० १
गूडर - गूदड़ (सि० क० १ १०)
लगुण्ण — लगुन (सि० क० १ १२)
संट (सि० क० १ १३)
जण — मत (सि० क० १ १४)
किकाण (सि० क० १ १५)
पहाड — पहाड़ (सि० क० १ २३)
घाड — घाटी (सि० क० १ २३)
टोपरी — टोपी (सि० क० १ २६)
टाटर — शिरस्त्राण (सि० क० १ २६)
वाखरु (सि० क० १ २९)
चाटी (सि० क० १ ३२)
कचोल — कटोरा (सि० क० १ ३५)
राणा — राजा (सि० क० १ ३६)
विल्हइ — बिललाती (सि० क० १ ३
लूह — लोहू, रक्त (सि० क० १ ४४)
पाछें — पीछे (सि० क० १ ४४)
णातियउ — नाती (सि० क० १ ४९)
कंदलि — कण्ठ का आभूषण (सि० क०
कडय — कड़ा (सि० क० २ १६)
दमाम — दमामा वाद्य (सि० क० २
छइ — है (सि० क० २ २६)
ललक्क (रिट्ठणेमिचरिउ — धवल ४१ ९)
दडि — वाद्य विशेष (रि० च० ४२ १)
सवीम पक्षि विशेष -महिंदु १ ६

टिंट्टर – टिटहरी (सं० च० १ ६)
दुगालि (सं० च० १ ७)
सप्पर (सं० च० १ ३)
डुरइउ (सं० च० १ ४)
वरकर (सं० च० १ ·)
डोहिय (सं० च० १ ७)
भट्ठउ (सं० च० १ १४)
णिब्भंसिउ (सं० च० २ १९)
चडफड – छटपटाना (सं० च० २ २०)
छायाल – छियालीस (सं० च० ३ ११)
भल्ल – पशु विशेष, व्याघ्र? (रि० च० १३ ९)
दद्दुटर (रि० च० १३ ९)
डिक्करू – (रि० च० १३ १०)
विट्टल – (रि० च० १३ १२)
पहिल्ली – प्रथम, पहली (रि० च० १४ १)
पिछल्ली – पिछली (रि० च० १४ १)
लड – मनोज्ञ ? (रि०च० १४ ५)
णाइगम – जाति विशेष के देव (रि० च० १४ ३)
बियाई – (रि० च० १४ ९)
वहल – विपुल (रि० च० १४ १०)
मोट्टिया–मोटिटयाहरणं घडियउ
वज्जें (रि० च० १४ १२)
मट्टि – (रि० च० १४ १४)
गारी (रि० च० १४ १६)
मिग्गु – मृग (रि० च० १४ १६)
चंदोवा – चंदोवा (रि० च० १४ १)
भडारी – (रि० च० १५ ३)
अणुवेक्ख – अनुप्रेक्षा, अनुचिन्तन (रि० च० १५ ४)
रंडी – विधवा (रि० च० १५ १०)
माढा (रि० च० १५ १३)
ढोर – (रि० च० १६ १०)

अपभ्रंश के कई प्रकाशित काव्यों में भी ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनके दर्शन प्राकृत-कोशों में नहीं होते। विशेष रूप से 'प्राकृत शब्द-महार्णव' में नहीं पाये जाने वाले शब्दों की तालिका इस प्रकार हैं :—

काणि – लज्जा (करकंडचरिउ १, २, ६)
टेवंत – टेना, तेज करना (क० च० १०, १९, ८)
णण्ह – स्निग्ध (क० च० ८, २, ६)
पेड्या – पेटिका, पेटी (क० च० १, ७, २)
फेंफरि – फल विशेष (क० च० ९, २१, ५)
उसं – ओस (जंबूसामिचरिउ १०, ७, ९) प्राकृत शब्द में उस्स है।
उच्चेडिय – उच्चाटित, उचटा हुआ (जं० च० ६, ४, ६)
उण्णाह – बाढ़ (जं० च० ८, १०, १)
उद्दस – उपदेश (जं० च० प्रशस्ति २०)
उद्धूस – रोमांचित (जं० च० १, ८, ३)
उप्पुंछिय – ऊपर से पोंछी हुई (जं० च० १०, १६, २)
उप्फेरिय – संवारी हुई (जं० च० १०, १६, ६)
उल्लिचचण – रहट (जं० च० ४, ११, ६)
ओडिय – उठाने वाला (जं० च० १, ११, ८)
ओहालिय अवलिप्त (जं० च० ६ १० १३)

कंचाइणि – कात्यायनी (जं० च० ५, ८, ३५)
डोह–दोह, अवगाह (जं० च० ४, २१, ३)
तरिया – तैराक (जं० च० १०, ११, ७)
तोरा – तुम्हारा (जं० च० ४, १८, १) छत्तीसगढ़ी-तोरा, तोला
थगदुग – वाद्य (जं० च० ५, ९, ११)
कच्छडय – कछौटा (जं० च० ५, ७, १३) प्राकृतशब्द० कच्छोटी
थडि – कुण्डल (जं० च० १०, १६, ४)
नेसग्गय – वस्त्र (जं० च० ५, ९, ११)
पट्टोल – वस्त्र विशेष (जं० च० ४, ८, ६)
पड्डल – पाटल पुष्प (जँ० च० ८, १६, ४)
पद्धा – स्पर्द्धा (जं० च० १, ११, १३)
पल्लीवण – चोरों के निवास योग्य सघन वन (जं० च० ५, ८, २४)
पारग्गह – युद्ध (जं० च० ६, १, १२)
पियलि – टीका, तिलक (जं० च० ८, १४, १४)
रसद्ट – रसाढ्य (जं० च० ५, ८, ३४)
रुंद – एक वाद्य (जं० च० ५, ६, १२)
सलसलिय – सलसलाया, कांसे का शब्द (जं० च० ५, ६, ८)
हूहुय – शंख का शब्द (जं० च० १, १५, ९)
नयारि – गंवार (भविसयत्तकहा १४, ५, ७)
आमुरीय – दही बड़ा ? (भ० क० १२, ३, ९)
खज्जा – खाजा, एक प्रकार का पक्वान्न (भ० क० १२, ३, ४)
सुहाली – एक प्रकार का पक्वान्न (भ० क० १२, ३, ४।
हुक्कइ – ? भ० क० २, २, ७)
डोक्कर – आयुध विशेष (भ० क० २, २, ७)
णिरारिउ – अलग किया हुआ (भ० क० २, १२, ३)
मंच्छुडु – शीघ्र (भ० क० २, १४, ३)

यद्यपि महाकवि धनपाल कृत "भविसयत्तकहा" के विशिष्ट शब्दों का संकलन "पाइअ-सद्द-महण्णव' के द्वितीय संस्करण में किया गया है, फिर भी अनेक शब्द ऐसे हैं, जो उसमें आकलित नहीं है। इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य अप्रकाशित तथा प्रकाशित काव्यों में अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं, जो प्राकृत के कोशों में परिलक्षित नहीं होते।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश की शब्द सूची प्राकृत से अभिन्न नहीं है। यद्यपि कहीं-कहीं अपभ्रंश शब्दों की बनावट तथा अर्थ समझने के लिए प्राकृत शब्द-समूह से बहुत कुछ सहायता मिलती है, किन्तु अपभ्रंश का झुकाव देशी भाषाओं के अधिक निकट होने के कारण इसमें देशी शब्दों की प्रचुरता है। जो विद्वान् यह कहते हैं कि अपभ्रंश में ९५ प्रतिशत से अधिक शब्द वे ही हैं जो "पाइअसद्दमहण्णव" तथा

"देशी नाममाला" आदि में पाये जाते हैं, वे केवल अपभ्रंश के कुछ प्रकाशित तथा परिशिष्ट मे संलग्न शब्द-कोश के आधार पर निर्मित अपनी धारणा प्रकट करते हैं और जिन का यह मत है कि "अपभ्रंश कोश" प्राकृत कोश से भिन्न नहीं हो सकता, वे अपभ्रंश के स्वतन्त्र अस्तित्व को नकारते है। किन्तु अब भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राकृत तथा अपभ्रंश भिन्न-भिन्न युगों की साहित्यिक भाषाएँ रही हैं। उनकी शब्द तथा पद-रचना में ही नहीं, वाक्यों की बनावट तथा शब्द-सम्पदा में भी विशिष्ट अन्तर लक्षित होता है। केवल उच्चारण की भिन्नता से ही नहीं, युग की मनोवृत्ति तथा सम्पर्क के कारण अपभ्रंश मे जो बहुविध परिवर्तन हुए, उसके कई रूप आज भी साहित्य में लक्षित होते हैं। अतएव यह कथन उचित नहीं है कि अपभ्रंश-कोश प्राकृत से भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि अपभ्रंश के बहुत से शब्द प्राकृत में मिलते हैं। जो शब्द सरलता से प्राकृत-कोशों में में नहीं मिलते वे देश्य वर्ग में परिगणित किये जाते हैं। इस प्रकार एक ओर अपभ्रंश का शब्द-समूह देशज है और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे ही विचारों के कारण आज तक किसी अपभ्रंश-कोश का निर्माण नहीं हो सका। अपभ्रंश की शब्द-सम्पदा केवल देशज या आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की नहीं है, उसमें संस्कृत-प्राकृत तथा द्रविड़ भाषाओ के शब्द उसी प्रकार समाये हुए हैं जैसे हिन्दी में विविध प्रान्तीय बोलियों के शब्द सहज ही समाविष्ट हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सर्वप्रथम "अपभ्रंश-कोश" के सम्पादन का कार्य अपने हाथ में लेने का विचार किया था और सम्भवतः कुछकार्य भी किया था। उन्हीं की प्रेरणा से सन् १९३४ में मैंने प्रथम बार यह प्रयास किया था कि ऐसे शब्दों का आकलन किया जाय, जो प्राकृत-कोशों में तथा संस्कृत के कोशों में नहीं मिलते है। ऐसे लगभग एक सहस्र शब्दों का संकलन किया जा चुका है। इधर कुछ विद्वानों का यह परामर्श भी है कि केवल उन्हीं शब्दों का आकलन किया जाय जो "प्राकृत-शब्द-महार्णव" मे नहीं मिलते हैं। किन्तु मेरे सामने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येता तथा अनुसन्धित्सु की कठिनाइयाँ बारम्बार आती हैं। कोई भी जिज्ञासु अपभ्रंश काव्य पढ़ते समय प्राकृत-शब्द-महार्णव तथा उसमें न मिलने वाले अपभ्रंश-कोश दोनों को एक साथ रखकर शब्दार्थ का सन्धान नहीं करेगा। फिर, अपभ्रंश में किसी भी भाषा या बोली के शब्द मिलते हों, उन सबका एकत्र सकलन करना ही उपादेय होगा। अपभ्रंश काव्य में आगत किसी प्राकृत शब्द के अर्थ की जानकारी के लिए हम प्राकृत-कोशों को टटोलते रहें, इससे बड़ी कठिनाई और क्या हो सकती है ? इन सब बातों को ध्यान में रखकर "अपभ्रंश-कोश" की रचना की जा रही है। आशा है विद्वानों की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन अवश्य मिल सकेगा। अभी तक लगभग चार हजार-शब्दों का संकलन हो चुका है।

● ● ●

कबीरपंथी और दरियापंथी साहित्य में माया की परिकल्पना

●

सुरेशचंद्र मिश्र

सम्पूर्ण सृष्टि-व्यापार का अवलोकन करने पर यह जिज्ञासा होती है कि इसका विकास किन तत्वों से सम्भव हुआ। सृष्टि के जिन रूपों का प्रत्यक्षीकरण हम करते हैं, उनके गुणों को हम जिस रूप में देखते हैं, मूल रूप में उन्हें वैसे ही होना चाहिए। 'सांख्य' मतानुसार जिस सत्कार्यवाद को मान्यता की प्रतिष्ठा प्रदान की गई है उसका तात्विक विवेचन करने पर इस प्रकार का विचार सुनिश्चित किया जाता है कि किसी वस्तु अथवा कार्य में जिन गुणों का भान होता है, जिससे उनकी उत्पत्ति हुई, उसमें सूक्ष्म रूप से अवयवों को अनिवार्य रूप से विद्यमान होना चाहिए। 'बौद्ध' एवं कणाद आदि इसी प्रकार की धारणा में विश्वास करते है कि किसी भी पदार्थ का पूर्णरूपेण विनाश सम्भव नहीं, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में उसका परिणाम स्थिर होता रहता है, वैसे ही किसी वस्तु का नाश न होकर केवल रूप परिवर्तन ही सम्भव है। एक वस्तु के नाश के पश्चात् दूसरे पदार्थ की रचना होती है। जिस प्रकार बीज वपन के पश्चात् उसका एक मात्र आकार परिवर्तन होता है, नाश नहीं, अंततः पेड़ की सृष्टि होती है। सांख्य शास्त्र की मान्यतानुसार इस संसार में जिस वस्तु का पहले कोई अस्तित्व नहीं, वह कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकती। अर्थात् नई वस्तुओं का उत्पादन सर्वथा असम्भव है, क्योंकि शून्य से एकमात्र शून्य की ही उत्पति सम्भव है और कुछ नहीं। 'छान्दोग्य उपनिषद' में बतलाया गया है कि 'कथमसतः सज्जायेत्' जो है ही नहीं उसका द्वारा जो है वह किस प्रकार प्राप्य है?[1] सृष्टि के मूल कारण के लिए उपनिषदों में असत् शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[2] असत् शब्द से नाम रूपात्मक प्रत्यक्ष स्वरूप अर्थात् अवस्था का अभाव ही विवक्षित है। दूध के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ से दही की सम्भावना नहीं है, इस पर ध्यान से विचार करने पर निर्णय लिया जा सकता है कि पानी से दही नहीं निकल सकती, तिल के अतिरिक्त बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता। इन सबका

---

१. छांदोग्य उपनिषद ६.२.२.।

२ वही १।१९१ तै० २७१

अभिप्राय यह है कि जिसमें मूल रूप में गुण विद्यमान ही नहीं हैं उससे अभी जो अस्तित्व मे है वह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। यही कारण है कि 'सांख्य' मतानुयायियों ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि किसी कार्य के वर्तमान द्रव्यांश मूल कारण में भी किसी न किसी रूप मे अवश्य ही विद्यमान रहते है। इसी सिद्धांत को 'सत्कार्यवाद' कहा गया।

अखिल सृष्टि में हमें अनेक नाम रूप देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, वृक्ष, पशु-पक्षी, कीट, पतंग,पत्थर, सोना-चाँदी, हीरा, जल, वायु आदि। इनके विविध नामों के साथ गुणों में यह पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। सांख्य मतावलम्बियों का विचार है कि वास्तव मे यह पार्थक्य उन वस्तुओं के मूल रूप में नहीं, प्रत्युत समष्टिगत रूप से समस्त पदार्थ मूलतः एक ही हैं। अर्वाचीन रसायन शास्त्रवेत्ताओं ने गवेषणात्मक ढंग से विभिन्न पदार्थों का भेदीकरण कर बासठ मूल तत्वों का अन्वेषण किया, किंतु अब पाश्चात्य विद्वानो ने निष्कर्ष निकाला है कि ये मूल-तत्व स्वयंसिद्ध एवं स्वतंत्र नहीं हैं, क्योंकि इन सब का आधार कुछ और ही है। इन सब में समष्टि रूप से कोई एक ऐसी शक्ति केन्द्रित है जो समान रूप से सब मे निहित है। उदाहरणार्थ, सूर्य चन्द्र, तारागण, पृथ्वी आदि जो भी रचना हुई, उन्हीं का समष्टिगत नाम सांख्य दर्शन में प्रकृति है। जिस प्रकार किसी जगत् के समस्त वृक्षों को एक-एक करके नाम देना चाहें तो उनके अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, किंतु उन सब के सयोग से जिस समूह का निर्माण होता है उसे हम जंगल के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहते। उसी प्रकार से सम्पूर्ण सृष्टि के एक कण का यदि हम समीचीन नाम रखना चाहें तो प्रकृति को ही स्थान देना होगा। प्रकृति का अभिप्राय मूल का है, इसके अनन्तर जिन वस्तुओं की रचना होती है उन्हें विकृति अथवा मूल द्रव्य के परिणाम स्वरूप माना जा सकता है।

नामों के पश्चात् सृष्टि के अनन्त अंगों-उपांगों में निहित गुणों की ओर ध्यानाकर्षित करना है कि यदि इस मूल द्रव्य गुणों के विषय में एकता हो तो 'सांख्य' मत द्वारा प्रतिपादित सत्कार्यवादानुसार एक ही गुण से जगत् के असंख्य गुण वाले पदार्थों की सृष्टि कदापि सम्भव नहीं। साथ ही जब हम सृष्टि का निरीक्षण करते हैं तो पता चलता है कि इसके विभिन्न अवयवों या अंगों में अनेक गुण पाये जाते हैं, इन विभिन्न गुणों वाली सृष्टि के विषय में भी दार्शनिकों एवं चिंतकों ने मान्यता दी कि चाहे कैसे गुणवाली वस्तु क्यो न हो, उसकी गणना अपने गुणों की दृष्टि से किसी एक के अन्तर्गत हो सकती है। अर्थात् उन्होंने समस्त गुणों को तीन कोटियों में विभक्त किया जो इस प्रकार है—सत्व, रज एवं तम। प्रथम, पूर्णरूपेण विशुद्ध एवं पवित्र या पूर्णावस्था है, द्वितीय ठीक उसके प्रतिकूलावस्था स्वीकार की जा सकती है और तृतीय अवस्था का जन्म तब होता है जब द्वितीय गुणों वाली अवस्था का चरमोत्कर्ष होने लगता है। उस प्रकार शुद्धावस्था अर्थात् पूर्णावस्था को सत्वगुण,अधमावस्था को तमोगुण, इसके चरमोत्कर्ष वाली अवस्था का नाम रजोगुण है। सांख्यवादियों की धारणा है कि जगत् के समस्त पदार्थों में कोई न कोई गुण अवश्य ही विद्यमान रहते हैं प्रारम्भ में इन गुणों की गति समान रहती है इस प्रकार की सृष्टि के आदि में थी और प्रलय के पश्चात् भी प्रकृति की

इस प्रकार की साम्यावस्था तद्रूप ही रहेगी। साम्यावस्था का अभिप्राय पूर्णशांत अथवा पूर्ण गतिहीन है। किन्तु जब ऐसी अवस्था का आगमन होता है, जब कि इन गुणों का विकास साम्यावस्था को छोड़ कर न्यूनाधिक क्रम से होने लगता है तभी सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रश्न स्वाभाविक है कि इन गुणों में इस प्रकार का अंतर क्यों आ जाता है? इस प्रकार के क्रम को सांख्यवादियों ने एक सिद्धांत के रूप में ही स्वीकार किया है कि यही तो प्रकृति का धर्म है।

प्रकृति के इन तीनों गुणों के कारण ही इसे त्रिगुणात्मिका कहा गया है, जो कि व्यक्त स्वयं और समभाव से अखिल सृष्टि में परिव्याप्त है। आकाश, वायु प्रभृति भेद तो कालान्तर में हो सके, यद्यपि समस्त पदार्थ पृथक् रूप से सूक्ष्म एवं व्यक्त हैं और इनमें विद्यमान होने वाली शक्ति, जिसे मूल प्रकृति कहा गया है, वह सर्वव्यापी एवं अव्यक्त है। यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त में प्रतिष्ठित परब्रह्म एवं सांख्य दर्शन की प्रकृति में पर्याप्त पार्थक्य है। इसका कारण है कि परब्रह्म तो चैतन्य एवं निर्गुण स्वीकार किया गया है, किन्तु इसके प्रतिकूल त्रिगुणों की साम्यावस्था रखने वाली प्रकृति तो जड़ एवं सगुण सिद्ध हुई। इसलिए दोनों में विरोधाभास प्रतीत होते हैं। प्रकृति को सांख्य दर्शन में भी नाम अक्षर दिया है और इसके द्वारा उत्पन्न सभी पदार्थों को क्षर। किन्तु इसका अभिप्राय पूर्ण विनाश नहीं अपितु रूप परिवर्तन ही है। प्रकृति के अन्य अनेक क्रियाओं के कारण इसके विविध नाम गिनाये गये हैं। यथा, 'प्रधान', गुणक्षोभिनी' 'बहुधानक' एवं 'प्रसवधर्मिणी' आदि। सृष्टि के मुख्य सम्पादन कार्य अपने ऊपर लेने के कारण इसे 'प्रधान' कहा गया। प्रकृत अपने साम्यावस्था का भंग स्वतः करती है, इसलिए 'गुणक्षोभिनी' कहा गया। समस्त पदार्थों के त्रिगुण रूपी बीज वपन करने में एकमात्र प्रकृति ही सक्षम है, इसलिए उसे प्रसवधर्मिणी कहा गया। इसी प्रकृति को वेदान्तियों ने 'माया' नाम दिया। हीगेल के मतानुसार अखिल सृष्टि का मूल कारण जड़ और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसी से उसने अपने सिद्धांत को अद्वैत कहा है।

सांख्य दार्शनिकों की धारणा है कि मन, बुद्धि एवं अहंकार पंचभूतात्मक जड़ प्रकृति के ही धर्म हैं, साथ ही इन सबकी उत्पत्ति भी सम्भव है। जड़ प्रकृति से चेतन जगत् की सृष्टि कैसे हुई, इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार कोई भी अपने कंधों पर स्वतः नहीं बैठ सकता, उसी प्रकार प्रकृति का ज्ञाता जब तक प्रकृति से पृथक् नहीं, तब तक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होनी असम्भव है—'मैं यह जानता हूँ', 'वह जानता हूँ', आदि भाषा का प्रयोग भी वह नहीं कर सकता। व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा गया है कि हम जो प्रत्यक्ष देखते हैं वह मुझसे भिन्न है। इसीलिए सांख्य वेत्ताओं का विचार है कि ज्ञाता एवं ज्ञेय देखने वाला और देखने की वस्तु या प्रकृति को मूलतः भिन्न भिन्न स्वीकार करना चाहिए।[१]

एकमात्र प्रकृति के माध्यम से ही सृष्टि का विकास सम्भव नहीं, इसीलिए सर्वप्रथम सर्वनियंता परब्रह्म की परिकल्पना की गई, जिसे सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर 'पुरुष' नाम से अभिहित किया गया। सृष्टि का विकास इन्हीं 'प्रकृति एवं पुरुष' के योग से

---

१ सां० का० १७

स्वीकार किया गया है। पुरुष का अस्तित्व तो प्रकृति से भिन्न है, त्रिगुणात्मक प्रकृति जो कि सगुण है, उसके प्रतिकूल पुरुष निर्विकार एवं निर्गुण है। प्रकृति स्वयं जड़ है, किन्तु पुरुष सचेतन है। प्रकृति के माध्यम से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं और पुरुष उदासीन एवं अकर्त्ता है। प्रकृति अंधी है, पुरुष साक्षी। पुरुष एवं प्रकृति को अनादि स्वीकार किया गया है।[1] वैसे भी इनकी स्थिति समष्टिगत रूप से सर्वग्राह्य है। प्रकृति एवं पुरुष को छोड़कर तीसरा और कोई तत्व सृष्टि का कारण नहीं। निर्गुण पुरुष जब कुछ नहीं करता तब किस प्रकार सृष्टि का विकास हुआ ? इसका समाधान यह है कि बछड़े के निकट रहने पर जिस प्रकार गाय के स्तन में दूध आ जाता है, लोहे में चुम्बक के पास रहने से आकर्षण शक्ति का संचार हो जाता है, उसी प्रकार जब प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है तब प्रकृति अपने गुणों का प्रसार पुरुष के समक्ष करने लगती है।[2] यद्यपि पुरुष चेतन एवं ज्ञाता है तथापि निर्गुण होने के कारण वह स्वयं कोई कार्य करने में अशक्त है और ऐसी क्षमता के बावजूद ज्ञान का उसमें अभाव है, परिणामस्वरूप उसको भान नहीं होता कि क्या करना है ? ऐसी अवस्था में प्रकृति एवं पुरुष का संयोग अंधे एवं लंगड़े की जोड़ी के सदृश होता है। जैसे लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठकर मार्ग प्रदर्शित करे और वह उसकी सहायता से चले, वैसे ही सृष्टि का सम्पादन होता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में अव्यक्त और अनित्य परमतत्त्व जिस देश-काल आदि नाम रूपात्मक सगुण-शक्ति से व्यक्त अर्थात् इस दृष्टिगोचर होने वाली सृष्टि का निरूपण हुआ, उसी को वेदांतियों ने 'माया' कहा है।[3] ब्रह्म अविनाशी एवं प्रकृति नाशशीला है। ब्रह्म द्वारा माया पर जो स्थायी आवरण प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर है, उसी को 'सांख्यशास्त्र' में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नाम अभिहित किया गया है। सांख्यमतानुयायियों की धारणा है कि पुरुष एव प्रकृति दोनों स्वयंभू एवं स्वतंत्र हैं, परन्तु माया का अस्तित्व सदा परिवर्तनशील है। उनके अनुसार यह मान्यता समीचीन नहीं। नासदीय सूक्त की शब्दावली में कहा जा सकता है कि यह विषय मनुष्य के लिए ही नही प्रत्युत देवताओं के लिए भी गूढ़ एवं अगम्य है।[4] इसीलिए इससे अधिक नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानदृष्टि से निश्चित किए हुए निर्गुण परब्रह्म की ही यह अतर्क्य लीला है।[5] वेदांत सूत्र में इस प्रकार का वर्णन आया है कि मायात्मक कार्य अनादि हैं।[6] श्री मद्भागवत गीता में भगवान ने भी इस बात का समर्थन किया है कि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, मेरी माया है।[7] पुनः उन्होंने बताया है कि प्रकृति यानी माया और पुरुष दोनों अनादि हैं।

---

१ गीता १३'१९।
२. सा० का० ५७।
३. गीता ७'२४'२५।
४. ऋ० १०–१२९; तै० ब्रा० २.८.९।
५. वे० सू० '१'३३।
६ वही—२'१ ३५–३७।
७ गीता ७ १४

माया को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार किया गया है। जब वह माया के संयोग से विश्व की रचना करता है तब उसकी उपाधि ईश्वर की हो जाती है। इसीलिए श्रुति में प्रयुक्त 'कारणोपाधिरीश्वरः' के अनुसार आत्मा अपने कारण शरीर माया से मिलकर ईश्वर के नाम से विभूषित किया जाता है। 'श्वेताताश्वतरोपरिषद' में कहा गया है कि माया को प्रकृति जानना चाहिए और माया से युक्त आत्मा को ईश्वर, मायाच्छन्न होने पर उस ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप सगुण रूप में परिणत हो जाता है। अखिल सृष्टि के समस्त कार्य व्यापारो का हेतु एक मात्र माया को स्वीकार किया जा सकता है। वेदांत में जगत् 'ब्रह्म' का विवर्त रूप अथवा भ्रामक प्रतीत होने वाला परिवर्तित रूप स्वीकार किया गया है, किंतु जगत् माया का परिणाम है। द्रष्टा भ्रमवश रज्जु में सर्प की प्रतीति कर लेता है, इस प्रकार की कल्पना का आधार उसकी विवर्त शक्ति ही समझी जायगी। ठीक उसी तरह यह जगत् भी अज्ञानस्वरूप समझा जाता है।

सृष्टि विषयक प्रसंग में ईश्वर माया पर निर्भर करता है एवं ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि में केन्द्रित है। माया को परमेश्वर की बीज शक्ति स्वीकार किया गया है। जिसके कारण ब्रह्म एक होते हुए भी अनन्त नाम-रूपों से विभूषित किया जाता है (एकएव परमेश्वर कूटस्थ नित्यो नाम धातुः, अविद्यया माया विवत् अनेकधा विभाव्यते)। ब्रह्म को इस जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण बाताया गया है, परंतु वह निर्विकार एवं निष्क्रिय है। प्रश्न उठता है कि फिर वह ब्रह्म सृष्टि किस प्रकार सम्पन्न करता है ! माया को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार किया गया और माया एवं ब्रह्म के द्वारा सृष्टि का विधान माना गया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि माया एवं ब्रह्म दो विभिन्न सत्ताएं हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् में कुछ और है ही नही। माया एवं ब्रह्म का सम्बन्ध उसी प्रकार एक है जिस प्रकार अग्नि एवं उसकी दाहक शक्ति। व्यावहारिक दृष्टि से हम देखते हैं कि व्यक्ति की इच्छा शक्ति के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नही हो सकता, साथ ही व्यक्ति बिना इच्छा के भी रह सकता है। लेकिन इच्छा की संभावना बिना व्यक्ति के नहीं। उसी प्रकार माया ईश्वर की इच्छा शक्ति है, साथ ही मानसिक क्रिया भी। जिस प्रकार स्वप्न में मानसिक सृष्टि का ताना-बाना बुना जाता है उसी प्रकार यह विश्व भी ईश्वर की मानसिक शक्ति माया द्वारा ही रचा गया। माया संचालित ब्रह्म विश्व का हेतु बनकर ईश्वर कहा जाता है। जगत् के कारण भूतब्रह्म से जिसकी सत्ता है, जो आकाश आदि कार्यभूत पदार्थों से पहचानी जाती है और आकाशादि कार्यों के उत्पादन में समर्थ सद्वस्तु (ब्रह्म) की शक्ति रूपा वह माया है, उसका कोई स्वरूप नही है। इसीलिए उसका निर्वचन सद् एवं असद्द दोनों रूपों से नहीं हो सकता। वह न भिन्न है न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न उभयस्वरूप ही। माया सद्सद विलक्षण तथा भिन्नाभिन्न विलक्षण है, वह न सांग है न अंगहीन है। इस प्रकार उसे अनिर्वचनीय बतलाया गया। इन गुणों के होते हुए भी वह अभाव रूप नहीं। माया के परिणाम स्वरूप अखिल जगत् की सृष्टि होती है और जगत् रूपी महाप्रपंच का केन्द्र भी माया ही है। ऐसी अवस्था में माया की स्थिति भाव रूप है वह जगत् का कारण है, इसीलिए उसमें सत्व रज एवं तम गुण भी विद्यमान

है। यही उसके गुण एवं स्वरूप दोनों हैं जिसके परिणाम स्वरूप माया को त्रिगुणात्मिका नाम से सम्बोधित किया गया। जैसा ऊपर बताया गया है, इन रूपों के होते हुए भी माया भाव रूप ही है। तब भी जब मनुष्य में ज्ञानोदय होता है तब सारी द्विधा लुप्त हो जाती है। जैसे सूर्य के आलोक से अंधकार का नाश होता है। किन्तु इस प्रकार का ज्ञान तार्किक धरातल पर अप्राप्य है, अतः माया को ज्ञान का विरोधी बताया गया, अर्थात् आत्म-चिंतन द्वारा जब जीव में मूल चेतना एवं तत्वज्ञान मुखरित हो उठते हैं, तब इस अंधकारमय माया के समस्त प्रपंच विलीन हो जाते हैं। 'गीता' में भगवान ने बतलाया है "मायेव मे प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते।[1]"माया की सत्ता न तो परमार्थिक है और प्रतिभासिक ही, अपितु एक मात्र व्यवहारिक ही है। उसका आश्रय जीव है एवं मूल विषय ब्रह्म। माया मनुष्य पर एक ऐसा आवरण डाल देती है जिससे वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है।

श्रुतियों में माया को निम्न स्थान प्रदान किया गया है। श्रुति के द्वारा उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है और लौकिक जगत् में उसकी क्रियाएँ पूर्णरूपेण सत्य प्रतिभासित होती है। शङ्कराचार्य माया को इस जगत् का हेतु सिद्ध करते हुए उसके गुणों एवं विशेषणों को इस प्रकार बतलाया है—

अव्यक्त नाम्नी परमेश शक्तिः
अनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधिचैव माया,
माया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।

माया की दो शक्तियाँ स्वीकार की गई, प्रथम आवरण एवं दूसरी विक्षेप—इनके परिणामस्वरूप जगत् का यथार्थ स्वरूप लुप्त हो जाता है और एक ऐसे रूप का प्रतिपादन होता है जो तात्विक तौर पर निःसार एवं असत्य है। किन्तु उससे बढ़कर सत्य एवं श्रेष्ठ कोई रूप रह ही नहीं पाता, जिसमें लिप्त होकर संसारी जीव अभीष्ट से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार इन्हीं शक्तियों के परिणामस्वरूप ब्रह्म का वास्तविक रूप छिप जाता है और उसमें अवस्तुरूप जगत् का भान होने लगता है। उपर्युक्त दोनों शक्तियाँ क्रमशः तमो एवं रजोरूपा और परस्पर पूरक हैं। आवरण का अर्थ है पर्दा डालना एवं विक्षेप का अर्थ है वास्तविक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु ला देना। 'वेदांत' में इस प्रकार की चर्चा मिलती है कि माया की आवरण शक्ति जीव के ज्ञान नेत्रों के आगे आकर ब्रह्म के वास्तविक रूप को उसी प्रकार ढंक लेती है जैसे एक छोटा-सा मेघ का टुकड़ा द्रष्टा के नेत्रों को ढंककर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को छिपा लेता है।[2]

आवरण शक्ति के माध्यम से ईश्वर का वास्तविक रूप ढंक जाता है, तब माया की दूसरी शक्ति विक्षेप जगत् के विविध मायिक प्रपंचों में जीव को उलझा देती है और जीव को

---

१ गीता ७ १४

२ स्तोम, १०।

तात्विक रूप में उसी प्रकार भ्रम होने लगता है जिस प्रकार द्रष्टा को रज्जु में सर्प की भ्रांति हो जाती है।

माया के अस्त्र-शस्त्र, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि है, जो जगत् में अनन्त रूप धारण कर जीवों के नेत्र, बुद्धि और दर्शन शक्ति पर शरीर, अस्मिता, अभिमान का पर्दा डाल देते है। इससे जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर यह समझने लगता है कि 'मैं' अनन्त, अनादि, शाश्वत, अजर, अमर परमात्मा नहीं हूँ; मैं हाड़-मांस का एक पुतला मात्र हूँ अर्थात् विनाशशील हूँ।' माया के दुर्दमनीय प्रकोपों के कारण ही सम्पूर्ण जगत् चक्षुहीन हो असख्य सांसारिक क्लेशों से विक्षिप्त होकर अनन्त जन्मों के भयावह चक्कर में चक्की के आटे के सदृश पिसता रहता है और माया सदा उसे सत्य सन्मार्ग से विचलित करती रहती है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि अखिल विश्व ही माया के अनन्त प्रपंचों का क्रीड़ा-स्थल है। इस क्रीडा में माया एक ऐसी सुषुप्ति है, जिसमें संसारी जीव अपने अभीष्ट को भूल कर सो जाते है। ये समस्त खेल एकमात्र जीवों के लिए ही हैं, ईश्वर इस माया से निर्लेप भाव से अपना सम्बन्ध रखता है। यही जीवों को सीधी राह से उलटी ओर खींच ले जाती है। इसी कारण माया को अविद्या तथा अज्ञान कहा गया है।

माया को गुणों की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया गया है, एक विशुद्ध सत्व गुण प्रधान एवं दूसरा मलिन सतोगुण प्रधान, अर्थात् अविद्या।[1] माया का विशुद्ध 'सत्व स्वरूप' उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था है। ऐसी परिस्थिति में सतोगुण की ही प्रधानता होती है। माया के कारण जब उस परमतत्व में क्रिया उत्पन्न होती है, तब उसके अलग-अलग अनंत स्वरूप निर्मित हो जाते है। जब विश्लेषण किया जाता है तब उसे समष्टिगत रूप में माया एवं व्यष्टिगत रूप में अविद्या कहा जाता है। अविद्या माया जीवगत अभावरूप तथा अज्ञान-रूपी होती है।

जिस माया का चित्रण 'ऋग्वेद' में अलौकिक पराक्रम अथवा कलाबाजी के रूप मे हुआ, उपनिषदों में उसे दृढ़ दार्शनिक पृष्ठभूमि प्राप्त हुई और 'सांख्य' तथा 'वेदान्त' मे इसका इतना गहन विवेचन हुआ कि उसका लेखा-जोखा रखने के लिए स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है।

उपर्युक्त मान्यताओं का प्रभाव निर्विवाद रूप से सम्पूर्ण संत साधना पर पड़ा, जिससे संत कबीर एवं दरिया भी अपने को मुक्त न कर सके। किस प्रकार और किस रूप में मायावाद का ताना बाना इनके द्वारा बुना गया, इसका उल्लेख यहाँ वांछनीय है।

दोनों पंथों में माया का जो विशद वर्णन किया गया है उसमें पर्याप्त सादृश्य खोजा जा सकता है। इन सन्तों की रचनाओं में जहाँ कहीं भी ईश्वर की विभूतियों का वर्णन प्राप्य है वहाँ माया की शक्तिमत्ता का भी चित्रण हुआ है सृष्टि का विकास

क्रम इन्हीं के अस्तित्व एवं सहयोग से हुआ सृष्टि का विकास सत्पुरुष द्वारा प्रारम्भ होता है। सत्पुरुष त्रिगुणातीत है और सृष्टि त्रिगुणमय।

उपनिषदों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत् अथवा अद्वैत ब्रह्म का ही अस्तित्व था। 'तपैच्छत् बहुस्याम् प्रजायेति' अर्थात् उसके हृदय में जब अनेकत्व या बहुत्व की लिप्सा जाग्रत हुई तब उसने सृष्टि का प्रारम्भ किया। इस प्रकार की धारणा का समर्थन लगभग अनेक भारतीय धर्मग्रंथ करते है। इन दोनों पंथो की मान्यतानुसार इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि के पहले वह तरम तत्व अमर लोक में विराजमान था, तब विश्व शून्याकार था अथवा चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। ऐसी अवस्था में सत्पुरुष के मन में जब सृष्टि की इच्छा जाग्रत हुई, तब उसने निरंजन तथा आद्या नाम्नी नारी को जन्म दिया। निरंजन एवं आद्या दोनों क्रमशः मन एवं माया के प्रतीक हैं, समस्त सुख-दुख इन्ही के संसर्ग से विकसित होते हैं।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि माया एवं जगत् का अटूट सम्बन्ध है, यहाँ तक कि अखिल जगत् ही माया-जन्य है। इसलिए यदि इसे निखिल सृष्टि से पृथक् कर दिया जाय तो शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बचता। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि माया के कारण ही सृष्टि सम्भव हुई। तुलसीदास ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि अखिल ब्रह्मांड ही माया है। जहाँ तक मैं मेरा और तू तेरा का सम्बन्ध या द्वैत भाव की दौड़ है वहाँ तक माया का सुविशाल साम्राज्य छाया हुआ है :

मैं अरु मोर तोर मैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचार जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

—रा० मा० ३।१५।२

किन्तु माया को सृष्टि का मूल कारण स्वीकार करना समीचीन नहीं। मूल कारण तो पुरुष को ही माना जा सकता है। माया को उपादान कारण बतलाया जाता है, क्योंकि वह अकेले सृष्टि का विकास करने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण जगत् के प्रत्येक जीव पर माया का भयावह प्रकोप इस तरह छाया हुआ है कि सब-के-सब अपने अभीष्ट से वंचित हो चुके हैं। व्यावहारिक जीवन में उनके क्रिया-कलाप कितने मोहक एवं सत्य से प्रतीत होते है कि उन्हें छोड़कर अन्यत्र कहीं जाने का विवेक रह ही नहीं जाता। यही कारण है कि संत-साधना वाले समस्त कवियों ने जीवन में जितने भी सुख-विलास के प्रसाधन हो सकते है, उन्हें मायाजनित ही स्वीकार किया है और माया के लिए उनसे तुलनीय रूपक भी ढूँढ निकालने का प्रयास किया है। मानवीय धरातल पर लौकिक एवं पारलौकिक दो पहलू ही विशेष महत्व रखते है, जिनमें तात्विक दृष्टि से पूर्ण विरोधाभास परिलक्षित होता है। यही कारण है कि लौकिक जीवन का सत्य आध्यात्मिक जगत् के लिए असत्य एवं व्यर्थ सिद्ध होता है। दूसरी ओर, माया का आवरण आध्यात्मिक जगत् के विकास को रोकने के लिए इस तरह सक्षम है कि भौतिक जीवन में आध्यात्मिक सत्य भी मिथ्या एवं व्यर्थ सिद्ध होता है। माया की यही सफलता है कि वह जीव को अपने कठोर फन्दे में बाँधकर अपने अभीष्ट

से बहुत दूर ले जाकर भटकाती फिरती है, किन्तु उसका यह मिथ्या एवं भयावह कुचक्रपूर्ण आडम्बर आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण असत्य है। कबीर एवं दरिया दोनों इस विषय के पूर्ण समर्थक हैं।

कबीरपंथ की मान्यतानुसार माया का प्रभाव अखिल विश्व पर है।[१] 'ज्ञानप्रकाश' में ऐसा उल्लेख है कि मायाजाल में जगत् बँधा हुआ है और त्रिविध काल की कला में सब चूर हो रहे हैं।[२] माया में लिप्त होकर समस्त जीव अपने अभीष्ट अर्थात् आदि परब्रह्म की स्मृति पूर्णरूपेण भूलकर अपने मार्ग से विचलित हो गए है।[३] सम्पूर्ण जगत् पर माया का आतंक इस प्रकार छाया हुआ है कि सब ज्ञानहीन होकर इसके इन्द्रजाल में उलझे हुए हैं। परिणामस्वरूप उन्हें यम का शिकार बनना पड़ रहा है।[४] यहाँ तक कि त्रिदेवों की भी इस माया से रक्षा न हो सकी।

इसी तरह दरियापंथ में भी मायावी दुनिया से प्रेम रखने वालों को दाख-छोहारे जैसे अमृत फल के भोग से विमुख होकर विषमय सेमर के फूल में अनुरक्त घोषित किया गया है। इस प्रकार देखा जाता है कि कबीरपंथ एवं दरियापंथ दोनों की रचनाओं में बड़े अच्छे रूपकों के माध्यम से जगत्-प्रेम को निःसार एवं व्यर्थ सिद्ध कर अज्ञानी जीव के लिए एक अमर संदेश दिया गया है :

सुगना सीमर सेइया, दो ढेंढी की आश।
ढेंढी फुटी चनाक दै, सुगना चला निराश ॥१६२॥
सुगना सीमर बेगि तजु, घनी बिगूचन पांख।
ऐसा सीमरस सेवे, जाके हृदय न आंख ॥१६३॥

बीजक, पृ० १३५

सेमर फूल जस किरवां आवा। देखि फूल बहु हरष बढ़ावा॥
चुंगल गारत सुआ उड़ानो। रोम रोम मिथ्या कर जानो॥
जाना नहीं विवेक बिचारा। ठोक कपार चलो झखमारा॥
माया रूप आहि इमि भाई। जिमि फुल सेमर सुन्दरताई॥

—ज्ञानस्थिति बोध, पृ० १३९

दाख छोड़ सुगना उड़ि गएऊ। मास बिते इहवाँ चलि आएऊ॥१५५॥
अब सुगना तुम करो उपासा। बहुरि गए सेमर के पासा॥१५६॥
चोंच के मारे सुआ उड़ि गएऊ। मुरछि गए तावर तन अएऊ॥१५७॥
लाल फूल बिसवास लो भेऊ। उड़ि गइ माया भवन नहि रहेऊ॥१५८॥

—ज्ञानमूल, पृ० ३८७

---

१. अनुरागसागर, पृ० ७९।
२. ज्ञानप्रकाश, पृ० ८।
३ ज्ञानबोध पृ० १५
४ वही पृ० २०

माया के विविध रूपक

अतीतकाल से ही माया को त्रिगुणात्मिका स्वीकार किया गया है। इस मत से कबीर-पंथ एवं दरियापंथ दोनों सहमत हैं। इन गुणों से जिस प्रकार सृष्टि का विकास होता है, उसी तरह इनसे अखिल सृष्टि बँधती भी है। इस प्रकार इन त्रिगुणों के रूप में माया का रूपक एक ऐसा कठोर फन्दा निर्मित होता है, जिसमें समस्त जीव बँध जाते हैं। इससे किसी भी स्थिति में रक्षा सम्भव नहीं। इसीलिए श्री शंकराचार्य जी ने माया को बन्धन रूपा स्वीकार किया है और इसी मान्यता के अनुयायी कबीर भी हैं, क्योंकि उन्होंने भी माया को बन्धन रूपा बतलाया है। उन्होंने माया से अखिल जगत् को ही बँधा हुआ स्वीकार किया है।[1] माया को एक ऐसी विषैली नागिन बताया है, जो विष धारण कर सब के जीवन-पथ में बैठकर जगत् का भक्षण एवं सर्वनाश कर रही है। केवल कबीर ही ऐसे थे जो उससे बचकर भाग निकले।[2] कबीरपंथी साहित्य में भी कबीर के सदृश ही माया को बन्धन रूपा स्वीकार किया गया है। 'अमरमूल' में बतलाया गया है कि इसके कारण ही जगत् में द्वैत की परिस्थिति उत्पन्न हुई है, इसलिए इसका नाश होना नितांत आवश्यक है।[3] इसे स्वप्न की आशा के सदृश अवास्तविक ठहराया गया है। जो इसमें विश्वास रखते है उनका पतन अवश्यंभावी है :

मोहि निश्चय तुव पद विश्वासा। यह माया स्वपने की आशा।
जिन्ह जिन्ह माया नेह बढ़ाया। तिन्ह तिन्ह निज निज जन्म गंवाया॥

—ज्ञान प्रकाश, पृ० ४९

मदन साहब ने माया की उपमा एक ऐसी नाउन से दी है जो वेश परिवर्तन कर कर्म रूपी उस्तरा, नहन्नी एवं कैंची से अखिल जगत् का मुंडन कर रही है। वह एक मोहिनी का रूप धर कर मनुष्यों को अपने कुचक्रों में फांस रही है, जिसके रहस्य के विषय मे किसी को विवेक नहीं है। उसने क्रमशः ब्रह्म, सनक, सनन्दन, नारद, शारदा, गौरी, गणेश, गोपीचन्द, भरथरी को अपना शिकार बनाया। अपने कुचाल से वह सब पर ठग-विद्या का प्रभाव डाले हुये है कि किसी को इन कष्टों के प्रति ज्ञान ही नहीं होता।[2] माया की अपार महिमा एवं विशद लीला के चित्रण का होली से रूपक बांधकर धनी धरमदास ने बड़ा ही मनोग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। वह पंचतत्व एवं पच्चीस प्रकृति रूपी सखियो के साथ हँसते हुए गीत गा रही है। कुमति एवं छल का डफ लेकर बड़ी तीव्र गति से बाजा बजाती हुई सबको अपने मोह पास में बाँध रही है। त्रिगुणों का तमूरा एवं आशा तथा तृष्णा की स्वरलहरी बड़े ही लय के साथ बज रही है। प्रत्येक दृष्टि से साज बाज हो चुका है, लोभ, मोह, रूप, पिचकारियों से दुर्मति का रंग घोल कर सब पर इस प्रकार फेंक रही है कि उसके इस कपट पूर्ण आचरण का शिकार सम्पूर्ण जगत् ही हो रहा है। सुर, नर, मुनि

---

१ कबीर ग्रंथावली परिचय पृ० ६४
२ बीजक पृ० १३६

आदि में से कोई भी इसके कुकृत्य से बचा नहीं। माया अज्ञानी जीवों पर ही विजय प्राप्त कर सकती है, क्योंकि इन्हें ही उसके इन्द्रजाल का कुछ भी ज्ञान नहीं। परिणामस्वरूप वे इसे सांसारिक सुख वैभवादिक नश्वर प्रसाधनों को सर्वस्व स्वीकार कर लीन हो चुके हैं। इस रहस्य से सुरक्षा केवल कुशल एवं विवेकी व्यक्तियों की ही सम्भव है, जिनके सन्निकट मायावी बन्धन पहुँच ही नहीं सकते।[1]

माया को गुरुदयाल साहब ने एक कर्कशा नारी स्वीकार किया है, उसकी गणना डाइन, भूतनी एवं पिशाचिनी की श्रेणी में करते हुए उसके प्रति पूर्ण अविश्वास प्रकट किया है।[2] माया के कार्यों में कोई स्थिरता नहीं है, क्योंकि किसी परिस्थिति में कुछ लोगो को निःशंक बना देती है और कभी मनुष्यों को विविध चिन्ताओं से व्यग्रकर अद्वैत ब्रह्म के विषय में विविध रहस्य उत्पन्न करती है।[3] कबीरपंथी संतों के सदृश गुरुदयाल साहब ने इसे कोई स्थूल रूप प्रदान नहीं किया है। माया का आधार मानवीय अनन्त कल्पनाएँ हैं, साधारण जीवों की माया का निराकरण तो सम्भव है, किन्तु गुरुओं की वाणियों में जो भ्रमजाल रूपी माया जनित कल्पनाएँ है उनका कुछ भी निदान नहीं है।[4]

दरियापंथी साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत माया के स्वरूप पर कबीरपंथ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। दरिया साहब ने भी कबीर के सदृश माया को चूहड़ी बताया है :

यह माया है चूहड़ी, अब चूहड़े की जोए।
बीच मे झगड़ा लाय के, आपु किनारे होए।।

—सहस्रानी पृ० १५ (पाण्डुलिपि)

उन्होंने इसे काली नागिन बतलाया है। पुनः उसकी उपमा विषमय बेलि एवं वेश्या से दी है, जो व्यसनी जीवों को अपने वशवर्ती बनाए हुए है किन्तु साधु लोगों से दूर भागती है।[5] माया मद में मस्त जनों को दरिया साहब ने अमृत से विमुख एवं विषपान करने वाला बताया है। तिस पर भी माया के कोट और भी नुकीले हैं। यह माया न तो किसी को अभी तक हुई है और न तो भविष्य में किसी की होगी।[6] इसीलिए उन्होंने इस संसार को शोक एव संतापना का सरोवर घोषित किया है।[7] सांसारिक माया की उन्होंने एक कलवारिन से उपमा दी है,जो नशीली मदिरा का पान करा कर समस्त संसारी जनों को मोह ली है। काया वह रूपक मृगतृष्णा से बाँधते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार मृग की प्यास कभी नहीं बुझ[8]

---

१. अमरसूल, पृ० ३२४।
२. शब्द विलास, पृ०५३,५४।
३. धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ६१,६२।
४. कबीर परिचय साखी ५७
५. सहस्रानी (संत कवि दरिया एक अनुशीलन परि०) पृ० १८२।
६ वही पृ० १८२।
७ ग्यान सरोदे पृ० २५२

ठीक उसी प्रकार मायाग्रस्त लोगों की मोहलिप्सा कभी शांत नहीं हो सकती।[1] कबीरपंथ के अनुरूप ही दरिया साहब ने भी माया के लिए कल्पना की है कि वह एक ऐसी नारी है जो पंच-तत्वों एवं पच्चीस प्रकृतियों रूपी सखियों के साथ अपना बृहद् शृंगार कर मधुर चाल से चलते हुए जगत् में यत्र तत्र सर्वत्र कलह का बीज अंकुरित कर रही है।[2] 'ज्ञान रतन' में माया की तुलना एक दीपक से की गई है, जिस पर जीव रूपी पतिंगे मुग्ध हो, भस्मीभूत हो रहे हैं। मायावी जगत् के रंगसाज को देखकर दरिया साहब ने इसे मीना बाजार कहा है, जिसके चमत्कार को देख जीवों की दृष्टि भ्रमित हो जाती है।[3]

मायावी जगत् में अनुरक्त प्राणियों की उपमा दोनों पंथों में चिर-प्रचलित विविध दृष्टांतों (श्वान, केहरि, गज, कपि एवं नलिनी के तोते आदि) से दी गई है, जिनसे उनके हृदय की अज्ञानता का भंडाफोड़ हो सके।[4]

माया के अस्त्र शस्त्र :

माया के विविध क्रिया-कलाप पर दृष्टिपात करने पर प्रश्न उठता है कि वह अपने किन उपादानों के माध्यम से जगत् पर अपनी महिमा एवं गुण का प्रसार करती है! वे अवयव है—काम, क्रोध, मद एवं लोभ। इन्हीं के परिणामस्वरूप माया के अनन्त जंजालों की सृष्टि होती है, जिनसे विषयी एवं अज्ञानी जीव अपना सर्वनाश करते हैं। इन्हें कहीं-कहीं सैनिक बताया गया है और कहीं पर स्वतंत्र अस्त्र-शस्त्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

माया को दो रूप प्रदान किया गया है—एक तो मोटी माया एवं दूसरी झीनी। दोनों का लक्ष्य जीवों को अपने वशवर्ती बनाकर उन्हें क्लेशों द्वारा पीड़ित करना है। कबीरपंथी रचना 'सर्वज्ञ सागर' में इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है :

> ठग भरमावे बहुबिधि लूटे। यम धन्धा से कबहुँ न छूटे।
> मोटि अविद्या छुड़ावन लागे। झीनी महा अविद्या पागे॥
> झीनी मोटी दोउ कष्ट सरूपा। कारण नास्ति परति यहि कूपा॥
>
> —सर्वज्ञ सागर, पृ० १४६

मोटी माया के काम, क्रोध, मद, लोभ आदि सहायक अंग बताये गये हैं, जिनका मायावी आकर्षण जीवों को अनुरक्त करने में सफल होता है। कबीर तथा उनके अनुयायी संत साधकों ने इनकी भरपूर भर्त्सना की है और जीवों के लिए माया के इन उपदानों को भ्रम-कूप एवं विषवेली की उपमा प्रदान की है, जिसमें समस्त जीव इस प्रकार उलझे हुए हैं कि विरक्ति असम्भव ज्ञात होती है।

---

१. वही, पृ० २५०।
२. भक्तिहेतु, पृ० २८७।
३ शब्द (परि०) १५६
४ शब्द परि०) पृ० १०४ १०५

जड़ चेतन दोउ नारि स्वरूपा कनक कामिनी जिव भ्रम कूपा
विष की वेलि दोहू को जानी । लगे ताहि में जिव अज्ञानी ।।

—जीवधर्म बोध, पृ० १५

माया के इन्द्रजाल का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने 'भूमि परत भा ढाबर पानी जिमि जीवहिं माया लपटानी' कहकर बड़े अच्छे ढंग से किया है, जिसका पूर्ण साम्य कबीर-पंथी सहित्य की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है :

भूमि परी डाबर पहचानी । इमि जीवहिं माया लपटानी ।।

—अमर मूल, पृ० १७८

कहने का अभिप्राय यह कि माया का कुचक्र एवं भयावह प्रकोप, ज्यों ही जीव जन्म लेता है, आकर घेर लेता है और इस प्रकार का क्रम जन्म से लेकर जीवन पर्यंत चलता रहता है। निरंजनबोध में काम एवं क्रोध का बंधन अति कठिन बताया गया है। क्रोधी जीवो को बार-बार जन्म धारण कर नरक की खानि में पड़ना पड़ता है।[1] लोभियों को सर्प एवं सूकर की योनियों में जन्म लेना पड़ता है।[2] ज्ञानप्रकाश में काम, क्रोध, तृष्णा, अहंकार, लोभ एवं मोह सब मन के विकार बताए गए हैं, जिनसे सब पथभ्रष्ट हो रहे हैं।[3] सुख, सम्पत्ति, पुत्रादि मायावी विकार स्वप्नवत एवं व्यर्थ बताए गए हैं।[4] काम, क्रोध, मद लोभ के कारण ही जीवों को चौरासी लक्ष योनियों में चाक के सदृश बार बार नाचना पड़ रहा है।

काम

कबीरपंथी रचनाओं में इस प्रकार का उल्लेख आया है कि जब हृदय में काम का प्रवेश होता है तब जीव विवेक रहित हो जाता है।[5] यथा :

प्रथम काम को यह गुन जानू । दहन ज्ञान बन कठिन कृशानू ।।

—जीवधर्म बोध, पृ० १३

दुष्ट काम उर प्रकटे आयी । ज्ञान विचार बिसरि सब जायी ।।

—विवेक सागर, पृ० ७०

इस संसार में विरले ही होंगे जो कामासक्त न हुए हों।[6] मैथुन विकारो में अखिल

१. जीवधर्म बोध, पृ० १५।
२. वही, पृ० १६।
३. विवेक सागर, पृ० ७०-७२।
४. वही, पृ० १७-१८।
५. वही, पृ० ७२
६ वही, पृ० १७-१८

जगत् में लिपटा हुआ है। यावत कथाएँ जगत् में प्रचलित है उन सबका मूल कारण स्त्रिय ही हैं, जिनसे मुक्ति कदापि सम्भव नहीं। भोगों में अनुरक्त होकर जो भक्ति का ढोंग करता है वह बार-बार जन्म धारण करता है। कनक एवं कामिनी दोनों, जीवों के लिए भ्रम-कूप है, जिसमें समस्त अज्ञानी जीव पड़े हुए हैं।[1] महर्षियों तक को कामदेव हत्यारे ने वशीभूत कर उनके जप-तप को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।

कबीरपंथी साहित्य 'विवेक सागर' में काम के प्रचंड प्रभाव का बड़ा ही अच्छा वर्णन हुआ है :

यह काम अति प्रचंड है, होत उत्पन्न तिय अंग।
सैन चैन अति ही बढ़े, चढ़े काम रति रंग॥
तन मन अस्थिर ना रहे, काम बान उर साल।
एक बाण से सब किये, सुर नर मुनी बेहाल॥

—विवेक सागर, पृ० ७०

काम के प्रचंड प्रभाव से कोई रक्षित नहीं। बड़े बड़े सुर, नर, मुनि आदि (जिनकी अतीत काल से कहानियाँ प्रचलित हैं) काम से प्रभावित हुए हैं। यथा—शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, शृङ्गी ऋषि, नारद, दशरथ एवं रावण, सब काम से ही प्रेरित हुए।

क्रोध

क्रोध जगत् में इतना शक्तिशाली है कि इसकी प्रचंड महिमा के कारण समस्त शुभ-गुण लुप्त हो चुके है। क्रोध के कारण धर्म का नामो-निशान तक रह नही जाता। प्रलय की स्थिति तक उत्पन्न हो जाती है। सद्गुण का प्रभाव विलीन हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति स्वयं दुख प्राप्त करता है साथ ही दूसरों को भी दुख देता है। हजारों वर्ष तपश्चर्या करने वाले मुनियों का सारा धर्माचरण क्रोध के कारण क्षण में ही विनष्ट हो जाता है। अंततः सब नरक-गामी होते हैं। जब क्रोध का प्रवेश शरीर में हो जाता है, तब फिर किसी प्रकार का जप-तप सम्भव नहीं है।

'विवेक सागर' में यह उल्लेख आया है कि काम से भी बढ़ कर क्रोध प्रचण्ड है, जिसके भय से नौखण्ड त्रस्त है। क्रोध के प्रवेश करते ही शरीर थर-थर काँपने लगता है, भौहें टेढ़ी हो जाती हैं एवं अशुभ तथा निःसार वचन निकलने लगते है! क्रोध के विषय में भी इनकी रचना में अनेक कथाएँ उद्धृत की गई हैं, जिनका लक्ष्य क्रोध के दुष्परिणामों का स्पष्टीकरण है। यथा, ब्रह्मा, सनक, शिव, राम, दुर्वाशा, कौरव, पांडव आदि का क्रोध जगत् विख्यात है, जिनसे संसार में विनाशमूलक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं।[2] इस प्रकार दसों दिशाओं में क्रोधाग्नि भभक रही है और सब जल कर खाक हो रहे हैं:

---

१ विवेक सागर पृ० १७ १८
२ वही, पृ० ७९।

दशो दिशा ते उठी परबल क्रोध की भाय
संगति शीतल साधु की, शरण उबरिये भाग ॥

—विवेक सागर, पृ० ७३

बहुत जतन तप कीनेउ, सब फल क्रोध नसाय।
कहै कबीर धन संचे, चोर मूसि लै जाय॥
कहै कबीर विचार के, क्रोध अग्नि बहु जाग।
संगति साधु संतनाम की, सरन उबरिये भाग॥
क्रोध अग्नि घट घट बरी, जरत सकल संसार।
दीन लीन निज भक्ति सो, ताकर निकट उबार॥

—विवेक सागर, पृ० ७३-७४

लोभ

लोभी व्यक्ति को कदापि सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती। वह अपने हित के लिए नित्य माला फेरा करता है—तब भी उसे नरक की यातना से मुक्ति नहीं प्राप्त होती, बार-बार पापाचार एवं अनरीति करने में संलग्न रहा करता है।[१] जो धन एवं सम्पत्ति का लोभी होता है वह कदापि भाव एवं भक्ति नहीं कर सकता। लोभ से बुरा और कुछ भी नहीं। समस्त अधर्म लोभ के कारण ही है। जिस प्रकार मदारी हाथ में लकुट धारण कर बन्दर को नचाता फिरता है, ठीक उसी प्रकार लोभ जीवों को भ्रम में नचा रहा है। लोभी व्यक्ति जब धनार्जन में लीन रहते हैं तब उन्हें अहर्निश न तो नींद ही आती है न चैन ही पड़ता है। लोग गुरु भी ऐसा खोजते है जो धनार्जन का सुगम मार्ग बता सके और इस प्रकार के कपटपूर्ण आचरण वाले शिष्य के सम्पर्क में जो आते हैं वे अपने जीवन से खिलवाड़ करते हुए उसी प्रकार डूब मरते हैं जिस प्रकार कोई पत्थर की नाव पर चढ़ कर डूब मरे।

कलयुग में लोग दुख पाने पर वेश परिवर्तित कर चारों ओर अपनी लोभपूर्ण आकांक्षा की तृप्ति के लिए भ्रमण कर रहे है। लोभ के वशीभूत हो जाने पर मानव जीवन विषाक्त-सा बन जाता है और इस प्रकार लोभ की इच्छा समग्र जीवन में द्विगुणित होती रहती हैं (विवेक सागर, पृ० ७५)। सब प्रकार का ज्ञान एवं परिश्रम लोभ के कारण ही व्यर्थ सिद्ध होता है।[३] विवेक सागर, में इस प्रकार का वर्णन द्रष्टव्य है :

भेष भक्ति मुदित सबै, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दर्शन फीके परे, एक लोभ की लार॥
भगत मुखिया जटाधारी ज्ञानी गुनी अपार।
षट दर्शन भटकत फिरे एक लोभ की लार

मद

अभिमान विशेष रूप से कष्टदायक सिद्ध होता है। अभिमानी व्यक्ति इस संसार मे ऐंठकर चलता है, मूछों पर ताव देता हुआ अपनी परिछाईं देख कर इठलाता है और दूसरे के कंधे पर शान से हाथ रख कर चलता है। पगड़ी टेढ़ी कर हृदय में गर्व से मतवाला होकर सर्वत्र भ्रमण करता है। अनीतिपूर्ण वचन सब से कहता है, सम्पूर्ण जगत् में अपने को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि समझता है और अपना ही सम्मान चहता है, किन्तु प्रबल-काल के आने पर समस्त अभिमान चूर हो जाता है :

छर्व गर्व अति सर्व सुख, विषय विकरा न भूल।
कहै कबीर काल शिर पर, लिये हाथ त्रिशूल ॥

—विवेक सागर, पृ० ७७

दरियापंथी साहित्य को देखें तो पता चलता है कि कबीरपंथ के समान ही इसमें काम, क्रोध, मद, लोभ का चित्रण किया गया है। इन्हीं विकारों को जीवन की निःसारता का मूल कारण स्वीकार कर लिया गया है।उदाहरण के लिए—

काम

माया के दो प्रधान-शस्त्र कामिनी एवं कनक हैं। नारी-प्रसंग एक ऐसा इन्द्र-जाल है जो देवताओं तथा मुनियों तक को विद्ध कर देता है, तो संसारी मनुष्यों की क्या बात की जाय? शंकर, विष्णु, ब्रह्मा और रामचन्द्र जी स्वयं अपनी स्त्रियो से विवश थे। 'ज्ञान रतन' में कामिनी और कनक को ही जगत् के समस्त जंजालों का केन्द्र बताया गया है। दरिया साहब ने जीवन को अत्यल्प बतलाया है और संसार को एक कुसुम, जिसके मोहक रंग को देखकर सब भूल गये हैं। संसार को उन्होंने चित्रसारी कहा है, जिसमें नट और नागरिकाएँ ताली बजा बजाकर नृत्य कर रही हैं, वेश्या और भाड़ राग अलाप रहे हैं और सभी गर्व और गुमान से भरे हुए हैं। परिणाम स्वरूप उन्हें काल-गाल में विलीन होना पड़ रहा है।[१] मन एवं माया ने सुर-नर-मुनि सब को मोह लिया है और सब के गले में बेड़ी पड़ी हुई है; मोहनी सब के गले में जंजीर बाँधकर नचा रही है, लोभ के वशीभूत होकर सब कामासक्त हो रहे हैं (भक्तिहेतु, पृ० ३०९)। कामिनी के सग पड़ने से भक्ति-भाव और जोग कुछ भी नहीं हो सकता। नारी बहुत बड़ी विकार है और इसकी प्रीति अग्नि में पाँव डालने के सदृश है।[२] जिस प्रकार अग्नि में कपास पड़ने पर जल कर खाक हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस व्यक्ति की दृष्टि नारि-स्नेह में रत हो गई, वह अपने शीतल शरीर को भी दग्ध कर देता है। जिस प्रकार हांडी में अदहन पकाया जाता

---

१ भक्तिहेतु, पृ० २१३
२ ब्रह्मविवेक पृ० ३५४

है और उसे अग्नि पर रखकर गर्म किया जाता है, उसी प्रकार कामिनी का सम्पर्क होते ही शरीर में कामदेव का प्रबल संचार प्रारम्भ हो जाता है।[1] काम का दुष्परिणाम तो यहाँ तक देखा जाता है कि लोग अपनी एक पत्नी से तुष्टि न पाकर वेश्यागमन करते है।[2] काम के प्रचंड प्रभाव का एक सजीव चित्र निम्न पद्य में द्रष्टव्य है :

> कामिनि काल खेले परचंडा। सात दीप कहिए नव खंडा।
> जोगी जोग बहुत जो कीन्हा। कामिनि काल खैंचि जिव लीन्हा ॥३३१॥
>
> —ब्रह्मविवेक, पृ० ३५९।

कबीरपंथ के समान दरियापंथ ने भी काम-विषयक कथाओं का वर्णन हुआ है, यथा, कृष्ण, नारद, शृङ्गी ऋषि आदि।

क्रोध

दरिया साहब ने बड़े जोरदार शब्दों में इस बात का समर्थन किया है कि क्रोध के कारण बड़े-बड़े मुनि और ज्ञानी नष्ट हो गये। क्रोध ही समस्त विनाशमूलक परिस्थितियो का मूल कारण है। क्रोध से ही रावण का क्षण भर में नाश हो गया और विभीषण ने लंका का विराट् राज्य प्राप्त किया। क्रोध के कारण यादवों का संहार हुआ ('ज्ञान रतन' पृ० १२५)।

लोभ

लोभ एक ऐसा विकार है जो संसारी जीवों को भौतिक पदार्थो की ओर अनुरक्त कर परमार्थिक अथवा आध्यात्मिक जगत् से दूर ले जाता है। लोभी व्यक्तियों को कभी कहीं शांति नहीं। यह प्राणी को वास्तविक जगत् से बहुत दूर ले जाकर भटकाता रहता है, यहाँ तक कि उसे व्यवहार का भी ज्ञान नहीं रह जाता और अनेक दुष्कर्म करने के लिए उसे विवश करता है। हम इस संसार में जन्म लेते ही माया से अनुरक्त होते हैं और कूपमण्डूक के सदृश अपने स्त्री-पुत्र-कलत्र और सुख-सम्पत्ति वाले अवास्तविक और निःसार जगत् को अपना सर्वस्व स्वीकार कर जीवन के यथार्थ एवं परमार्थ सत्ता से विमुख हो जाते हैं। माया के कारण जीवों की मुक्ति कहाँ ? दरिया साहब ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जब लंकेश इतना सम्पत्तिवान, शक्तिवान, ज्ञानी और सर्व समर्थ खुले हाथों इस संसार से चल बसा; दुर्योधन, जिसकी अपार सेना थी, उसका पूर्ण विनाश हुआ तो इन सब की तुलना में हम साधारण जनों की क्या गणना ?

दरिया साहब ने कबीरपंथ के अनुरूप ही ऐसे व्यक्तियों की, जो सांसारिक सुखो मे

---

१ वही, पृ० ३५५।

२ गज परि० (सत कवि दरिया एक अनुशीलन, पृ० १५५ १५६

लिप्त रहते हैं, सेमर के फूल के प्रेमी तोते से तुलना की है, जो अपने बन्धु-बांधव, द्रव्य-खजाना आदि की लालसा में मग्न रहते हैं। पर यह सब मृत्यु के अनन्तर साथ में जाने वाले नहीं है, अंत में यमदूतों द्वारा मुसकें चढ़ाकर यातना दी जायगी। माता-पिता, स्त्री के समक्ष ही प्राण निकल जायँगे और जो सम्पत्ति संचित की गई है, वह सब यहीं छूट जायगी। लाश घसीट कर बाहर फेंक दी जायगी। सगे-सम्बन्धी घेरकर रोयेंगे। अंततः शव एक अर्थी पर उठाकर श्मशान घाट पर जला दिया जायगा। यही सब का अंत है। दो-चार दिन तक शोक छाया रहेगा, पुनः सब अपने मायाबी धन्धे में संलग्न हो जायँगे। यही इस जीवन का इतिहास है। धन, सम्पत्ति, हाथी में से कोई एक भी साथ न जायगा। समस्त सम्बन्धी साथ न जाकर केवल तुम्हें भुला देने वालों में से हैं। ('शब्द' परि० [संत कवि दरिया : एक अनुशीलन], पृ० १४८, १४९, १५४)। इससे सिद्ध होता है कि इस समस्त विश्व का प्रसार और विकास अवास्तविक और निःसार है।

कबीरपंथ में जिस प्रकार धन-लोलुपता का चित्रण हुआ है, ठीक उसी प्रकार दरियापंथी साहित्य में भी उल्लेख हुआ है। यदि किसी को एक पैसा मिले तो वह दो की इच्छा करता है, दो से चार, चार से आठ, आठ से दस और दस से बीस। इस प्रकार धन की बलवती इच्छा कभी भी शांत नहीं होती। लोग हिंसात्मक भोजन की भी इच्छा करते हैं, किन्तु यदि अभाग्य से समस्त धन लुट जाय तो अंततः पुनः रंक बन जायँगे। चाहे महान् से महान् व्यक्ति हो या अधमाधम, सब का यही अन्त है।[1]

मद

दरिया साहब ने अभिमान को विनाश का कारण स्वीकार किया है। जब जीव मे अभिमान का प्रवेश होता है, तभी उसका सर्वनाश सम्भव है। संसार के जीवों में 'अहं' अर्थात् मैं और तुम की स्थिति ही विषमता की परिस्थिति उत्पन्न करने वाली है। लोग इस संसार में अहंजन्य भावनाओं से प्रेरित हैं, किन्तु उनकी भावनाएँ व्यर्थ हैं। इस अहं से अभिमान की उत्पत्ति है, जो कि मनुष्य के पतन का मूल कारण है।

काम-क्रोध, मद-लोभ के अतिरिक्त दोनों पंथों में एक और मायाजन्य स्थिति स्वीकार की गई—वह है मोह जनित भावना।

मोह

कबीरपंथी साहित्य में मोह को अत्यंत दुखःप्रद तत्व स्वीकार किया गया है। भवसागर में डूबने का सबसे बड़ा कारण मोह ही है। स्त्री-पुत्र-कलत्र एवं कुटुम्ब के मोह वैसे ही जीव के लिए नाशक हैं जैसे कई लोहार के लिए। स्त्री के घर में प्रवेश करते ही विपत्ति के बीज

1 शब्द परि० (संत कवि दरिया एक अनुशीलन पृ० १४४, १६१

अंकुरित होने लगते हैं। यह सब व्यर्थ का प्रसार है, इनसे कोई भी सुख नहीं उपलब्ध हो सकता। दसों दिशाओं में व्याप्त जगत् में देखो, क्या कोई भी तुम्हारा है ? सब व्यर्थ का ससार बसा हुआ है। यह सब जीवन के अभीष्ट के लिए बाधक तत्त्व हैं, समस्त प्रपंच जीवों को ठगने के लिए किए जाते हैं। ऐसे वंचको से प्रीति करने पर अमरफल की हानि होकर विष ही हाथ आता है ('जीवधर्मबोध')। 'विवेक सागर' में मोह को राजा कहा गया है, जिसकी प्रबल घटा त्रिलोक पर छाई हुई है। अज्ञान जिसकी राजधानी, आलस महल, आशा पटरानी, इच्छा बेटी, कुमति सखी, छूत टहलुआ, लालच नौकर, रोग, शोक, सशय, द्वंद राजा के पुत्र हैं। अधर्म ध्वजा है, कलह बाजा, दम्भ छत्र, कपट वजीर, असत्य खवास एवं पाखण्ड मंत्री है।[1] इस प्रकार के चित्र को प्रस्तुत करने का मूल अभिप्राय मोह के प्रति घृणा उत्पन्न करना ही है।

इसी तरह दरियापंथ में भी मोह का बड़ा ही अच्छा चित्रण प्रस्तुत हुआ है। दरिया साहब ने बतलाया है कि मोह के कारण ही सब विकल से भ्रमण कर रहे हैं। मोह रूपी तड़ाग में जल भरा हुआ है और समस्त जीव उसे अमृत की भाँति छककर पी रहे हैं। मोह ही एक ऐसी बाटिका है जिसमें कई भाँति के फल-फूल लगे हुए हैं एवं मन रूपी भ्रमर उन सबके रस एवं सुगंध का आस्वादन कर मदमस्त हो कर भ्रमण कर रहा है। मोह अग्नि के समान है, जिसमें घर जल रहे है। मोह रूपी वृक्ष पर ही जीव बसेरा डाले हुए है, मोह रूपी सरिता में जीव रूपी मछलियाँ गोता लगा रही हैं। मोह रूपी भ्रमर-कोश में जीव मृगमद के सहश लीन है। इस प्रकार सब मोह के वशीभूत हैं। गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध मोह का परिणाम है।[2] उसी से धरती एवं पुरुष की सृष्टि हुई है, उसी से अन्न का उत्पादन किया जाता है। मोह के वशीभूत होकर कृषक खेती करता है। यहाँ तक कि स्वयं भगवान भी मोह से वंचित न रह सके। इस के कारण ही जगत् के सम्पूर्ण सम्बन्ध नियोजित होते हैं। मोह की बेड़ी से ही सब जकड़े हुए है।[3]

उपर्युक्त विवरणों का विश्लेषण करने पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर-पथ एवं दरियापंथ दोनों में काम, क्रोध, मद लोभ एवं मोह को माया का प्रमुख अंग स्वीकार किया गया है, जिसके फलस्वरूप निखिल सृष्टि पर त्रिगुणों का विस्तार होता है। दरियापंथी माया का चित्रण पूर्णरूपेण कबीरपंथी वर्णनों पर ही निर्भर करता है। इनमें रूपक, दृष्टांत एवं अन्तकथा आदि की दृष्टि से पर्याप्त एकरूपता है।



---

१. विवेक सागर पृ० ६९-७०।
२ ज्ञान रतन पृ० २११।
३ ज्ञान रतन, पृ० २१२

मध्यकालीन गुजराती कृष्ण-भक्ति साहित्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव



ओम प्रकाश सक्सेना

अन्य भारतीय प्रदेशों के समान ही, ११वीं से लेकर १५वीं शताब्दी तक गुजरात का लोक जीवन भी, पर्याप्त अस्त-व्यस्त रहा। यवनों के निरन्तर अत्याचारों और आक्रमणों से प्रदेश का जन-जीवन प्रभावित हुए बिना न रह सका। ऐसी विषम परिस्थिति मे पराजय की विस्मृति के लिए प्रजा ने प्रेमलक्षणा भक्ति का आश्रय ग्रहण किया। फलस्वरूप भक्ति-धर्म जनता का आश्रय स्थल बना। श्रीमद्भागवत वैष्णव धर्म का मुख्य ग्रंथ बना और उसमें गोपाल कृष्ण की विविध लीलाओं का भक्ति-भाव सम्पन्न अभिव्यक्तिकरण हुआ। कृष्ण-भक्ति काव्य में भागवत को उपजीव्य ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया।[1]

गुजरात में कृष्ण तथा विष्णु और उनके अन्य रूपों की पूजा और उपासना के अनेक प्रमाण शिलालेख, साहित्य आदि के रूप में मिलते हैं, जिनसे इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि गुजरात में कृष्ण-भक्ति का प्रचार काफी व्यापक रहा है।

गुजरात में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का एक महत्वपूर्ण प्रमाण बाघेला सारंगदेव के समय के एक शिलालेख से प्राप्त होता है, जो १२९२ ई० का है, जिसमें सारदेव के पाल्हणपुर के व्यापार में नियुक्त पदाधिकारी महन्त पेथड़देव द्वारा कृष्ण की पूजा आदि के निमित्त दान देने का उल्लेख है। इस शिलालेख से एक कृष्ण मन्दिर होने की सूचना भी प्राप्त होती है।[2] गुजरात के रेवती कुंड से प्राप्त होने वाला १४१७ ई० का एक शिलालेख 'नवनीत चोर दामोदर' की स्तुति से प्रारम्भ होता है।[3] कृष्ण का त्रैलोक्य मोहन रूप गुजरात में ही उपलब्ध होता है तथा इसके साथ ही कालीयदमन और गोवर्धन धारण विषयक अनेक प्रतिमाएँ आदि आबू, मनोद, सोमनाथ अथा मांगरोल नामक स्थानों से प्राप्त हुई है।[4]

---

१. भागवत सम्प्रदाय, पृ० १४७–४८।

२. वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४२६।

३ गुजराती साहित्य खण्ड ५ पृ० ३११।

४ चालुक्यास आफ गुजरात पृ० २२५

अमलसाड स्टेशन के पूर्व धमडाछा नामक ग्राम से प्राप्त एक ताम्रपत्र जो ॐ नमो भगवते वासुदेवाय श्रीमद्भागवत के मंत्र से प्रारम्भ होता है[1] इसी प्रकार एक दूसरा शिलालेख जो दोहद से प्राप्त, सिद्धराज का ११९६ वि० का है, का प्रारम्भ भी धमडाछा के लेख के समान 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से ही प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार वली भीटा से प्राप्त एक सील में विष्णुचिह्न के चक्र के नीचे 'नमो भगवते वासुदेवाय' और छठी शताब्दी के खाहना के महाराजा संक्षोभना का प्राप्त एक ताम्रपत्र भी इसी मंत्र से प्रारम्भ होता है।[2]

भागवत-धर्म की उत्पत्ति मथुरा क्षेत्र में मानी जाती है। वहाँ से वह पश्चिम की ओर द्वारका तक फैला। कृष्ण स्वयं द्वारका में जाकर बसे। १२ वीं शताब्दी से पूर्व ही द्वारका एक वैष्णव तीर्थ के रूप में प्रसिद्धि पा चुका था। गुप्त शासक भागवत थे। उनके प्रतिनिधि अधिकारी ने सुदर्शन झील का नवीनीकरण करवाया था। वल्लभी का शासक 'ध्रुवसेन' प्रथम भागवत था। अठवीं शताब्दी में एक कवि ने कृष्णचरित सम्बन्धी काव्य-ग्रन्थ लिखा था। भिनमाल निवासी माघ ने ९वीं शताब्दी में 'शिशुपाल वध' की रचना की—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितु जगज्जगन्निवासौ वसुदेव सद्मनि।
वसन्ददर्शावितरन्तमम्बराद्हिरण्यगर्भाङ्ग भुवं मुनि हरिः।
(सर्ग १, श्लोक १)

१२८८ वि० में सोमेश्वरदेव ने 'उल्लाल राघव नाटक' की प्रस्तावना में 'श्रीद्वारका-लंकारनीलमणेः श्री कृष्ण देवस्य पुरतः' में द्वारका के कृष्ण का उल्लेख किया है। ११वीं तथा १२वीं शताब्दी में वैष्णव मत की जड़ें गुजरात में काफी जम चुकीं थीं और बहुत से नये मन्दिरों का निर्माण हुआ था, किन्तु गुजराज में १५वीं शताब्दी तक वैष्णव मत का रूप बिना सम्प्रदाय विशेष के पौराणिक ही रहा। किन्तु १५वी शब्दी से लेकर आगे तक का साहित्य सम्प्रदाय की भावना से लिखा गया। अब तक गुजरात में भागवत तथा बिल्वमंगल और जयदेव के ग्रन्थ प्रसिद्ध हो चुके थे। जयदेव के बहुत पहले राधाकृष्ण की उपासना सम्बन्धी रचना अपभ्रंश में पाई गई है, जिसका उद्धरण हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में दिया है—

कनक कलश स्वच्छे राधा पयोधर मण्डले,
नव जलधर श्यामा भात्मद्युति प्रतिबिम्बताम्।
कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया,
सत्यं कृष्ण ? क एवमाह ? मुसली मिथ्याम्ब पश्याननम्,
व्यादेहीत विकाशिते शिशु मुखे माता समग्रं जगद्,
दृष्ट्वा यस्य जगाम विस्मयपदं पायात स वः केशव।

सोमेश्वर के 'सुरथोत्सव' में—

स पातु गोवर्धन भारखिन्न यदगं संवाहन केतवेन।
गोप्यो गुरूणां पुरतोप्यशकंमवापुरा श्लेषंसुख स्मरार्ताः॥

---

१ वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास पृ० १५३।
२ वही, पृ० १४८ ४९

राधा स्तु सिद्धये रति विग्रहे या.....................

सातवीं शताब्दी के 'वज्जालाग' नामक प्राकृत सुभाषित संग्रह में कृष्ण का उल्लेख हुआ है :

धवलं धवलच्छीए महुरं, महुराउरीए मज्झम्मि ।
तव्वं विवकन्तीए 'कण्हो' त्ति बाहरिओ ॥

श्रीमद्भागवत का मध्यकालीन भक्ति-साहित्य पर शताब्दियों तक अखण्ड राज्य रहा। इसका प्रभाव सभी पुराणों से अधिक व्यापक मिलता है। भक्तों का यह प्रधान उपजीव्य ग्रंथ था और विद्वत्मंडली में भी इसकी महत्ता सर्वमान्य थी। यह 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' से प्रकट है। गुजराती कृष्ण-काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि गुजरात न केवल भागवत से परिचित था, वरन् उससे सम्बन्धित अन्य साहित्य का भी उसे पूर्ण ज्ञान था। यही कारण है कि रत्नेश्वर ने भागवत की श्रीधरी टीका को अपने अनुवाद का आधार बनाया और भीम ने बोपदेव के हरिलीलामृत को। गुजरात में श्रीमद्भागवत का प्रचार और उसका वहाँ के साहित्य पर प्रभाव व्यापक रूप में परिलक्षित होता है। ईसा की १०वीं शती तक इसकी प्रसिद्धि गुजरात में हो चुकी थी। मूलराज सोलंकी ने भागवत की ११०८ प्रतियाँ सिद्धपुर के ब्राह्मणों को दान में दी थीं। एक विद्वान् की धारणा है कि यदि गुजराती साहित्य मे से श्रीमद्भागवत से अनुप्रेरित सारी रचनाओं को निकाल दिया जाय तो बहुत कम ऐसी रचनाएँ रह जायेंगी, जिन्हें साहित्य कहा जा सकेगा।[1]

गुजराती भाषा में भागवत के अनुवाद व्रजभाषा की अपेक्षा अधिक हुए। यहाँ यह बात अधिक ध्यान देने योग्य है कि ये अनुवाद संकृत श्लोकों के अक्षरथः अनुवाद मात्र ही नही हैं, प्रत्युत कवि अपनी विवेचन शक्ति से भी काम लेता है, कहीं तो वह कथानक को विस्तार देता है, और कहीं उसे संकुचित करता है। श्री कृष्ण की वृन्दावन लीलाएँ इतनी सरस और मोहक हैं कि उनके प्रति गुजराती कवियों का आकर्षण स्वाभाविक है, और इसलिए इन लीलाओं का विस्तार भी उनकी कविता में लक्षित होता है।

यद्यपि गुजराती साहित्य का पालन-पोषण रामायण और महाभारत ने किया है तथापि उसके हृदय के निर्माण में भागवत ने पर्याप्त और महत्वपूर्ण योग दिया है : 'मध्यकालीन गुजराती साहित्य पर जेटली असर रामायण अने महाभारतनी छे तेटली ज असर श्रीमद्मभागवत नी पण छे आने भागवत मा पण दशमस्कँधनी असर तो खूब ज व्यपक प्रमाण मां देखाई आवे छे। नरसिंह मीरा नां प्रेमलक्षणा भक्तिना भाव थी अंकित थयेला पदो थी शुरू करी ने दयाराम नी ललित मनोहर गरबीओ सुधीनी मध्यकालीन गुजराती कविता मां बाललीला अने माता जसोदानां हालरडा दाणलीला, रासलीला, शृंगारनी मस्ती, अने विरहनो तलसाट, प्रेमभक्तिनो उन्माद अने राधाकृष्ण ना रिसामणां मनामणां नां जे, जे काव्यो जोवामां आवे छे ते बधनुं प्रभवस्थान 'दशमस्कंध' छे।'[2]

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ७०-७१।

२ दसम स्कंध पृ० १८ सम्पा० झवेरी

गुजराती साहित्य पर प्रभाव

गुजराती साहित्य में सर्वप्रथम **नर्षि** का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर अपनी काव्य-रचना की।

नयर्षि का समय सं० १४९७ के आसपास माना जाता है। इसकी कृष्ण-विषयक रचना 'फागु' है। इस काव्य का विषय वसंत ऋतु में द्वारकावासी कृष्ण का गोपियों सहित रासक्रीड़ा है।

मयरण—मयरण के छंद की भाषा के आधार पर लगता है कि इसकी रचना १५वीं शताब्दी के बाद की नहीं है। शास्त्री इसका समय १५०० वि० के आसपास मानते हैं। मयरण की एकमात्र कृति मयरण छंद ही उपलब्ध है। 'स्यामा स्याम' का संयोग श्रृंगार विविध प्रकार से इसमें वर्णित किया गया है। कहीं-कहीं विरह तथा मान से संबंधित पद भी प्राप्त होते हैं।

भालरण मोढ़ ब्राह्मण थे। उनका नाम आस्पद त्रिवेदी था और वे पाटण के निवासी थे। पाल उनके दो गुरु थे और श्री ब्रह्मप्रियानंद। दो पुत्र थे–उद्धव और विष्णुदास। भालण के समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ इन्हें १६वी शती विक्रमी के उत्तरार्द्ध में मानते है, पर १५वीं शती की मान्यता अधिक ग्राह्य है।

अन्य रचनाओं के साथ भालण की कृष्ण-विषयक दो रचनाएं मिलती हैं—

१. दशम स्कंध
२. कृष्णविष्टि

गुजराती विद्वानों के अनुसार दोनों रचनाएँ उनके उतरकाल की हैं तथा उत्तमकोटि की हैं। इनपर श्रीमद्भागवत का पूरा प्रभाव है। प्रथम रचना भागवत के दशम स्कंध का अनुवाद होते हुए भी अधिक महत्व की है। कृष्ण की बाल-लीला के पद, राधा का वर्णन तथा ब्रजभाषा के पद ऐसे की कारण है–

जसोदा मात सांभलो बात, करे उपघात
सुन्दरवर घरमाहे रे कयहो, कयम रीजै।
चंचल भाल, कोण उपाय, माखण खाय
दोणी फोडी दूधनी कय हो॥

कहीं-कही भालण ने स्वतन्त्र रीति से भी किसी ऐसे विषय का प्रतिपादन किया है, जो भागवत में नहीं प्राप्त होता।[1] यथा, दाणलीला का प्रसंग जो 'दशमस्कन्ध' के १२१ से १५५ संख्या के पदों में वर्णित है।

दूसरी रचना कृष्णविष्टि के केवल चार पद ही प्राप्त होते हैं, जिनमें कृष्ण के दूतत्व की भूमिका रूप द्रौपदी के मनोभावों को व्यक्त करने वाला संदेश वर्णित है।

१ दशम स्कंध पृ० १८ मनसुख भास मवरी

भीम कवि 'हरिलीला षोडश कला' और 'प्रबोध प्रकाश' के रचयिता है। इनका समय १५ वी शती के अन्तर्गत आता है। दक्षिण के पंडित बोपदेव ने १७८ पदों में 'हरि लीला विवेक' की रचना की है, जिसमें अति संक्षेप में भागवत की कथा वर्णित है। भीम ने एक मौलिक रचना प्रस्तुत की और उसे बढ़ाकर २००० कड़ियों तथा १६ कलाओं में विभक्त कर उसमें श्री कृष्णचन्द्र की निष्कलंक कथा का निरूपण किया है।[1] इन्होंने केवल भागवत के अध्यायों को क्रमबद्ध करने में वोपदेव का अनुकरण किया है।

गुजराती कृष्ण-भक्ति साहित्य में नयसी का स्थान अद्वितीय है। वे वैष्णव आचार्य नहीं, थे वरन् एक संत और भक्त थे। उनका किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं था। भक्ति के क्षेत्र में वे जाति और धर्म के भेद को नहीं मानते थे। १५वीं शताब्दी में प्रवाहित भक्ति धारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व नरसी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किया।[2] इसी कारण एक नागर ब्राह्मण और आचार-विचार वाले समाज के सदस्य होने के नाते, उन्हें बड़ा कष्ट झेलना पड़ा। वे अपने को जयदेव का आभारी मानते हैं। कृष्ण की बालक्रीड़ा एवं गोपियों के साथ कृष्ण की शृङ्गार-क्रीड़ा का गान उन्होंने भक्तिपूर्वक किया। नरसी मेहता की कृष्ण विषयक रचनाएँ इस प्रकार है—

सुरत संग्राम, गोविंदगमन, चातुरी छत्तीसी, चातुरी षोडशी, दाणलीला, सुदामा चरित्र, राससहस्त्रपदी, शृङ्गारमाला, बाललीला तथा हिंडोला, भक्तिज्ञान, कृष्णजन्म बधाई, कृष्ण जन्म और बसंत के पद।

उपर्युक्त रचनाओं में राधाकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं भागवत के प्रभाव से मुक्त होकर भी नरसी ने नवीन भाव वाले पद भी लिखे हैं।

नरसी के कृष्ण विषयक पदों पर भागवत का प्रभाव स्पष्ट है। गुजराती विद्वान् स्पष्ट रूप से उन पर भागवत और जयदेव का प्रभाव मानते हैं।[3] इस सम्बन्ध में आगे के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. दशमस्कंध की १२१ थी १५५ मा पद सुधी मा 'दानलीला' नो प्रसंग भालणे तद्दन स्वतंत्र रीते आप्यो छे। भागवत मां आ लीला नथी।

भालण एक अध्ययन, के० का० शास्त्री, पृ ६६।

२. (क) पंडित बोपदेव एक द्विज अेक, कीधु हरिलीला विवेक।
तिणि आधरि मि करी कथा, सरोवर जमालू फूड यथा॥

हरिलीला षोडस कला पृ० २१२।

(ख) सोल कला शशिहर सकलंक अेह श्री कृष्णकथा निकलंक

वही, फलश्रुति ७, पृ० २१३।

3 Vaishanavism had a real start in Gujarat in the 15th Century Thi was the period when all over India many Bhaktas and saints arose preaching the Bhakt Marge and making it a national faith.

The person who represented into deep relgious mov t at its

रुक्मिणी विवाह-विषयक इस काव्य की रचना अनेक पुराणों की कथाओं के आधार पर की है। भागवत, हरिवंश तथा विष्णुपुराण का उल्लेख कवि के शब्दों में इस प्रकार है :

भागवत में वर्णित है कि सच्चे भक्त मुक्ति की भी परवाह नहीं करते, चाहे वह सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य, अथवा एकत्व किसी भी प्रकार की हो। (भागवत ३-२९-१३), वे केवल पराभक्ति की कामना करते हैं और वह भी साध्यरूप में, साधन रूप में नहीं। यह भाव नरसिंह मेहता द्वारा प्रायः व्यक्त किया गया है :

'हरि ना जनतो मुक्ति न मागे, मागेजन्योमोजन्म अवतारे।

नरसिंह के श्रृङ्गारिक पद भागवत के श्लोक की व्याख्या करते हैं :

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥ भागवत १०-२२-२६

जिनका मन पूर्णरूप से श्रीकृष्ण में लग गया है, उनके लिए काम, मोक्ष नहीं रह जाता, क्योंकि भूँजा हुआ अन्न बीज बनकर उग नहीं सकता।

नरसी के दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैतवाद से बहुत मिलते है। उन्होंने लीलाभेद, लीलारस, आदि का भी प्रयोग किया है, किन्तु इस सबका कारण पुष्टिमार्ग का प्रभाव न होकर, उपनिषद, भागवत आदि प्राचीन भक्ति एवं दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा का परिपालन ही है। लीला की महत्ता भागवत में मुख्यतः निरूपित की गई है, और दार्शनिक क्षेत्र मे भी उनकी देन महत्वपूर्ण है।

कृष्ण-भक्ति विषयक पदो के सम्बन्ध में श्री के० एम० मुन्शी का मन्तव्य है कि ये पद संभवतः उनकी परिपक्व अवस्था के हैं।[1] इन पदों में अद्वैत वेदान्त की छाया दीख पड़ती है :

अखिल ब्रह्मांड मां एकतुं श्रीहरी, जूज वे रूप अनन्त भासे
देह मां देव तुं तेज मां तत्व तुं, शून्य मां शब्द थई वेदवासे
पवन तुं पाणी तुं भूमि तुं भूधरा, वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे
विविध रचना करी अनेक रस लेवाने, शिवथकी जीव थयो अजआशे
वेद तो अेम वदे श्रुति स्मृतिशाखदे, कनक कुंडल विषे भेद ह्मोय

(नरसिंह मेहता कृत काव्य-संग्रह, पृ० ४८४)

सकल संसार में व्याप्त उस अविनाशी ईश्वर को प्राप्त करने का मुख्य साधन भक्ति ही है। भक्ति को प्राप्त करने के लिये नरसी शरीर को भी नहीं गिनते :

भक्ति कारण मारो देह दुर्बल हजो,
देह कारण रखे स्नेह जाये।

---

highest in Gujarat was Narasinha Mehta.
Sri Vallabhacharay, life, teaching Movement—C. Parekh P. 384.

१ गुजराती साहित्य खण्ड ५ विभाग ८ प्रकरण १८ पृ० २६५

नरसिंह मेहता ने नवधाभक्ति (श्रवण, कीर्तन आदि भागवत में वर्णित) में से प्रेम लक्षणा भक्ति पर विशेष बल दिया है। कृष्ण की गोकुल की क्रीड़ा से सम्बन्धित पदों मे यह भाव स्पष्ट रूप से है :

> सत्य अनन्तज जेह ने कहीए, ते नवधा थी न्यारो रे,
> नवधामां तो नहिं नरवेडो, दशवा मां देखाशे रे,
> अचवो रस छे एहनी पासे ते प्रेमी जन पासे रे।

भागवत ने कृष्ण को स्वयं भगवान के रूप में 'एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान वयं' (१-३-२८) लिखकर स्वीकार किया—

> वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मति परमात्मेति भगवान मिति शब्यते॥

नरसी ने भी इसी आधार पर कहा—

> 'ते ब्रह्मद्वार आवीने ऊभा रह्या गोपिका मुख जोवाने ढके।'

भागवत के सप्तम स्कंध में नवधा भक्ति अथवा नवलक्षणा भक्ति का निरूपण किया गया है—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णों, स्मरणं पाद सेवनम्।
> अर्चनं वंदनं दास्यं, संख्यमात्मनिवेदनम्॥ (अ० ५, श्लोक २३)

नरसिंह मेहता ने नवधा के अनुकरण पर इस रागानुगा भक्ति को 'दशधा' नाम दिया है। साथ हो उन्होंने अपने आराध्य की प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति को अशक्त भी बतलाया है। उनका आराध्य तो सत्य है, अनंत है, दृष्टि में नहीं आता है, वाणी से परे है। वह केवल दशधा के ही माध्यम से प्रकट होता है—

> दृष्ट न आवे निगम जगावे, वाणी रहित विचारो रे।
> साथ अनंत ज जेह ने रहिए, ते नवधा थी न्यारो रे।
> नवधा माँ तो नहीं नरवेडे, दशधा माँ देखासे रे।
> अचवो रस दे अेहनी पासे, ते प्रेमी जन ने पाशे रे।
>
> (पद ५७)

मीरां ने उस असाम्प्रदायिक भक्ति-मार्ग की प्रचलित धारा का अनुसरण किया, जो १५ वी-१६ वीं शताब्दी में सम्पूर्ण भारत में वैष्णव भक्ति-धारा के रूप में बह रही थी। उन्होंने गोपी भाव से कृष्ण की भक्ति की। वास्तव में यही भक्ति उनके लिए स्वाभाविक भी थी। मीरां ने अपना समस्त जीवन कृष्ण को ही अर्पित कर दिया था। भागवत में कृष्ण के विविध स्वरूपों के संबंध में मीरां ने अपने मनोभाव व्यक्त किये है।[1] सारे जगत् में उन्हें अपनी ही वेदना के स्वर सुनाई देते हैं—

१ वर्धम्ल धम नो संक्षिप्त इतिहास पृ० २७४

गोविनो प्राण अमारो रे मने जग लाग्यो खारो रे

राधाकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी ग्राह्य नहीं—

बोल मा बोल मा बोल मा रे,
राधाकृष्ण बिना बीजुं बोल मा रे।
सांकरशेरडीनो स्वाद तजी नो,
कडवी ते लींबंवडो घोल मा रे॥

मीरां ने कृष्ण को ही अपना पति मान लिया था, अतः विरह की ज्वाला में जलते-जलते मिलन की आशा में उनका अन्तःकरण बार-बार कह उठता है—

पिया कारण रे पीली भई लोक न जाने घटरोग

मीरां की वाणी में राधा के हृदय की मिलनोत्सुकता, विरह में धधकता हुआ हृदय और नारी-मन का लालित्य समाहित है। उनके लिए कृष्ण को छोड़कर सारा जगत समुद्र के जल के समान खारा है। मीरां के इन भावों पर भागवत का पूरा प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है।

प्रभास पाटण के **केशवदास कायस्थ**, जिनका समय १६ वीं शती है, ने 'कृष्ण क्रीडा' काव्य लिखा। यह काव्य-ग्रंथ ४० सर्ग में ७००० पंक्तियों का है। भालण के दशम स्कंध की तरह यह भी भागवत दशम स्कंध का अनुवाद है। राधा, ब्रजभाषा के पद तथा पुराणों के संदर्भों के कारण इसका भी वैसा ही महत्व है। गुजराती साहित्य में नाकर का स्थान उनके आख्यानों के कारण ही श्रेष्ठ माना जाता है। कृष्ण सम्बन्धी उनकी एक रचना 'भ्रमरगीता' आख्यान शैली में लिखित तथा भागवत पर आधारित है। काव्य का रूप भावात्मक न होकर वर्णनात्मक है। भागवत के गोपी-उद्धव सवाद का एक प्रकार से पुनर्लेखन ही किया गया है। **चतुर्भुज** की रचना भी भ्रमरगीत है। इसकी शैली फागु काव्यों जैसी है। रचना का विषय भागवत पर आधारित उद्धव-गोपी संवाद है। **भीम वैष्णव** ने 'रसिक गीता' की रचना की जो वस्तुतः भ्रमरगीता ही है। **ब्रह्मदेव** ने भी 'भ्रमरगीता' की रचना की, जिसका आधार अन्य भ्रमरगीत की तरह भागवत का भ्रमर प्रसंग ही है। शैली की दृष्टि से इसमें नरसी मेहता की चातुरी छाया प्रतीत होती है। **कीकुवसही** ने जिनका समय १६ वीं शती का पूर्वार्द्ध, है, 'कृष्णपरक' बालचरित लिखा है। विषय की दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है। इनमें कृष्ण के बालरूप तथा बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। दोहा-चौपाई की आख्यानात्मक शैली में कवि ने भागवत की कथा के अनुसरण पर इस काव्य का निर्माण किया है। **वासणदास**, जिनका समय १६०० वि० के आसपास है, ने कृष्ण वृन्दावन, राधारास, हरिचुआक्षरा तथा सत्यभामानी कंकोतरी, आदि रचनाओं की सर्जना की है। प्रथम रचना का विषय राधाकृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा है। एक प्रकार से इसमें समस्त कृष्णलीला समाहित है। दूसरी रचना में वृन्दावन में सौन्दर्य तथा होली एवं फाग के विषय से सम्बन्धित पद हैं। **काकीसुतशोध** जी जिनका समय सं० १६४७–४८ है, ने 'रुक्मिणीहरण' काव्य लिखा है। कवि ने कृष्ण-

श्रीभागवत हरीवंश मा ए कथा वीष्णुपुराण
कहू अक छे वास्तार कही संक्षेप सुध जाण ॥

संत की एक मात्र रचना भागवत का अनुवाद है। फूढ़ ने भागवत के आधार पर 'रुक्मिणीहरण' तथा 'मल्लअखाडानां चंद्रावला' रचनाएँ की हैं। लक्ष्मीदास ने 'दशमस्कंध' और कुछ स्फुट पदों की रचना की है। १९५ कडवों में भागवत दशम स्कंध के ९० अध्यायों का अनुवाद किया गया है। स्फुट पद मुख्यतया स्तुति रूप है। देवीदास की सभी रचनाएँ भागवत पर आधारित हैं। इनका काव्यकाल सं० १६६० के लगभग रहा है। तीन कडवों की रचना 'रुक्मिणीहरण', 'भागवत सार' तथा 'रास पंचाध्यायी' इनकी हैं। **शिवदास**, जो देवीदास के काव्यकाल के समानान्तर ही रहे हैं, आख्यानकार थे। उनकी एकमात्र रचना 'बाल-चरित' कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आती है। भागवत का आधार लेकर कवि ने इसे 'दीन त्रण्य' में ही पद बंध कर दिया। भाऊ की केवल एक रचना 'पांडव विष्टि' है, जिसका विषय कौरवों-पांडवों के मध्य कृष्ण का दूतत्व है। गुजराती कवि परमानंद की केवल एक कृति 'हरिरस' ही प्राप्त है। इसका आधार भागवत का दशम और एकादश स्कंध है। समस्त रचना १२ सर्गों में विभाजित है। कृष्णदास की 'सुदामाचरित', 'रुक्मिणी विवाह', 'रुक्मिणी हरण हमचण्डी' तीन रचनाएँ हैं जो कृष्ण से सम्बन्धित हैं।

फाग की एकमात्र रचना 'कंसोधारण' है, जिसमें कवि ने कंसवध तक की समस्त कृष्णलीलाओं का प्रसंगान्तर से समावेश कर लिया है। कंसवध के बाद की भी कुछ घटनाओं का उल्लेख मिलता है। शैली की दृष्टि से रचना वर्णनात्मक एवं कड़वाबद्ध है। **माधवदास** की रचना 'दशम स्कंध', जिसका रचनाकाल सं० १७०५ है, भागवत दशम का अनुवाद मात्र है। कवि ने स्वतन्त्र रूप से कुछ परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया है।

समर्थ आख्यानकला कोविद **प्रेमानन्द** ने अनेकों आख्यान लिखें है, जिनका आधार भागवत ही है। विभिन्न आख्यानों के साथ ही उनकी कृष्णपरक रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१—रुक्मिणी हरण	२—रुक्मिणी हरण ना सलोको
३—बाल लीला	४—व्रजवेलि
५—दाणलीला	६—भ्रमरगीता
७—भ्रमरपचीसी	८—मास
९—सुदामाचरित	१०—दशमस्कंध (मोटा)

रुक्मणी हरण

इस रचना में रुक्मणी और कृष्ण के विवाह की कथा को अनेक पुराणों का आधार लेकर वर्णित किया गया है। यह एक आख्यान काव्य है, जिसमें कुल २५ कड़वे हैं।

रुक्मणी हरण ना सलोको

एक प्रकार से यह संक्षेप-सा ही है, जिसे कवि ने स्वयं स्वीकार किया है।

बाललीला

यह ग्रंथ न होकर केवल एक लम्बा-सा पद है। कृष्ण को जगाने के लिए यशोदा

नाना प्रकार से प्रयत्न करती हैं। सारी बाल-लीलाएं प्रसंगान्तर से इसमें आ जाती हैं।

व्रजवेलि

इसमें प्रेमानंद ने दशमस्कंध की लीला को संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

दाणलीला

राधा तथा उनकी सखियों से कृष्ण द्वारा दधिदान लिये जाने की कथा इसमें वर्णित है। रचना के कुछ स्थल बड़े ही हृदयग्राही हैं, जिनसे कवि की काव्य-कुशलता का स्पष्ट परिचय मिलता है:

दाण मागे रे, कानुडो दाण मागे रे,
सुंदर श्यामला रे, ओ प्रीतम पातला रे,
प्राणजीवन प्रभु छो मारा नागर नंदकिशोर,
अमे हियारी पारकी नारी, न कीजिये आवडुं जोर ॥[1]

श्रीकृष्ण और राधा के मध्य का वार्तालाप कितना मनमोहक है:

श्रीकृष्ण : तुतारी घुमटावाली रे, आँजया विना आंखडी काली रे।
राधा : पाधरी वाटे ते लड़े रे, जेने होय वे बाप।
श्रीकृष्ण : तारु सर्वस्व लेऊ सुंदरी तो नाम धरावुं कान।
राधा : सर्वस्व आमुं श्यामता, तुं आवे जो मुज पास।[2]

भ्रमरगीता

भागवत के भ्रमर-प्रसंग के आधार पर इसकी रचना हुई है।

भ्रमरपचीसी

यह भी विषय की दृष्टि से एक भ्रमरगीता ही है, केवल नाम और आकार का भेद है।

मास

इस काव्य में कवि ने प्रत्येक मास को प्राकृतिक उद्दीपन सामग्री से वातावरण चित्रित करके राधा के मन पर होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है।

सुदामाचरित

प्रेमानन्द ने भागवत का आधार लेकर भी इसमें कल्पना द्वारा वर्णनों को विस्तार दिया है।

दशम स्कंध

प्रेमनन्द का यह दशम स्कंध एक अपूर्ण रचना है। शेष भाग को उनके शिष्य ने पूर्ण किया। यह प्रेमानन्द की रचना कहाँ तक है, यह विवाद-ग्रस्त है। 'व्यास वाणी जाणी जथा, वेहवी प्राकृत जोड़ी कथा, से प्रकट है कि प्रेमानन्द ने मुख्यतया भागवत के दशमस्कध

---

१. मीरांबाई वैष्णव हता...अने श्री मद्भागवत मां प्रतिपादन के करेली अनन्य कृष्णभक्ति मां लीन हतां अेटलुं तो चोक्कस।

—मीरांबाई एक अध्ययन, डॉ० मंजुलाल मजुमदार, पृ० ७०।

२ वृहत काव्य दोहन, पृ० १८६

को आधार मानकर इसकी रचना की है। पर इसे अनुवाद किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता। यत्र तत्र अन्य पुराणों की भी कथाएँ दी गई हैं। अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से भी कवि ने सर्वत्र नवीनता लाने का श्लाध्य प्रयास किया है और एतन्निमित्त कृष्ण की कथाओं को अन्य पुराणों से भी संग्रहीत कर उनका निवेश यहाँ किया है। प्रेमानन्द ने इसकी रचना विशुद्ध भक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही की है। भौतिक लाभ की लिप्सा इसके पीछे नहीं है। कवि की समस्त कृष्णपरक रचनाओं में यह सबसे विशाल कृति है। प्रेमानन्द के दशमस्कंध की रचना, उसके समस्त ज्ञान का सार समझ कर की। यह कवि की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

> सकल शास्त्र निगमनुं तत्व, सर्व शिरोमणी श्री भागवत।
> ते मध्ये सार छे दसमस्कंध, जोडुं हुं प्राकृत पदबंध॥

प्रेमानन्द ने अपने इस भागवत दशम स्कंध में सभी रसों का प्रयोग किया है। 'गोली मां घाली हाथ, माखण तरत कढ़े, मुकावे जो मात, तो आँसुम पाडे। ऐसे बालक श्रीकृष्ण को झूले में सुलाते हुए व्रज वनिताएँ गाती हैं :

> धन्य जशोदा धन्य जशोदा, वण प्रसवे थई माता।
> कोनुं सांच्युं कोण भोगवे, लख्या लेख विधाता॥

यही यशोदा, जब कृष्ण यमुना में गेंद निकालने के लिए कूद पड़ते हैं, तब किनारे पर खड़ी होकर हृदय-विदारक करुण स्वर में कहती है :

> मारूं माणकहुँ रीसाव्युं रे सामलिया,
> तारा मन मा अेंशु आव्यु रे सामलिया।

रास के लिए मुरली का स्वर सुनते ही, गोपियाँ जिस कार्य में लगी थीं, उसे वैसा ही छोड़कर कृष्ण के पास दौड़ पड़ती हैं। ऐसे ही स्थल का वर्णन प्रेमानन्द के शब्दो मे द्रष्टव्य है :

> कोइक नहातां नाद सांभल्यो मन थयुं हरिमां मग्न रे
> ते जले निगलती उठी चाली, वस्त्र बहोली नग्न।
> अबलां आभरण भूषण पहर्यां मनडुं रह्युं जगदीश रे।
> ओढणी पहेरी कटि संगाथे, चरणां ओढ्या शीश।

इस प्रकार अस्त-व्यस्त गोपियाँ जब कृष्ण के समीप पहुँची, तो कृष्ण उन्हें वापस लौट जाने के लिए कहने लगे। उनके ऐसे वचन सुनकर गोपियाँ दुख से कातर हो उठी। प्रेमानन्द ने इस दुख की दशा को चित्रित करने वाली अनेक भाव-मुद्राओं की संयोजना की, जिसकी प्रेरणा उन्हें भागवत के चरणेन भुव लिखन्त्य से मिली

लिखे । अपनी विभिन्न गरबीओं में बाललीला, पन्नालीला, रासलीला, कमल लीला, रूपलीला, मुरलीलीला, दाण चातुरी, आदि विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है। राधा को केन्द्र में रखकर दयाराम ने राधाजी ने विवाह खेल, राधिकानां वखाण, राधिकानुं स्वप्न, आदि रचनाएं लिखी । ब्रजभाषा में 'भागवतानुक्रमणिका' की रचना की। १३१ पदों में भागवत का सार और 'प्रेमरसगीता', 'प्रेमरस परीक्षा' में भागवत के भ्रमरगीत के संक्षिप्त रूप, उद्धव संदेश में और उद्धव और गोपियों के मध्य का संवाद लिखा है :

तमारा तो हरि सघले रे, अमारा तो अेक स्थले,
तमो रीझो चांदरणा रे, अमो रीझूँ चन्द्र मले ।

दयाराम अपनी गरबीओं में अधिक खिले हैं। गुजरात की सामान्य से उच्च वर्ग की नारियों के कंठ में बसने वाली इन गरबीओं में से कुछ का उल्लेख यहाँ अभीष्ट होगा :

(१) कालज कोर्यु ते कोने कहीअे रे ओधवजी छेल छबीलडे ।
वेरी होयतो वढ़ता रे फावीअे,पाणा प्राण थी प्यारो अेने लहीअे रे।
(२) श्याम रंग समीपे न जावुं मारे आज थकी श्याम रंग समीपे न जावुं ।
(३) रभा रहो तो कहुँ वातडी बिहारी लाल ।

एक गुजराती आलोचक ने कवि दयाराम को महान कवि निरूपित किया है, जो वस्तुतः उपयुक्त ही है । उनके विचार यहाँ उल्लेखनीय हैं :

So for as poetical powers are concerned, he is undoubtedly the greatest genius since the days of Premanand. His poems on Krishna and the maids of Gokul are a stream of burning love of realistic passion and love, and lewdness of writings do not take away from the merits of poem, he is a very great poet indeed.[9]

इस प्रकार; अब तक के वर्णन से स्पष्ट है कि नरसिंह मेहता से लेकर कवि दयाराम तक के सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी काव्य-सर्जना श्रीमद्भागवत से प्रेरित होकर की। आगे संक्षेप में अन्य कवियों का उल्लेख मात्र किया जा रहा है, जिन्होंने श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर रचनाएँ लिखीं ।

वीरसिंह ने 'उषाहरण' की रचना की । भागवत का आधार लेते हुए भी कवि ने उसमे कुछ अन्तर रखा है। श्रृंगार और वीर इसके मुख्य रस है। द्वारिका के आनंदोत्सव का वर्णन बहुत ही सुन्दर है । जनार्दन ने भी 'उषाहरण' काव्य की रचना की। सौराष्ट्र के आख्यान कवि सुरदास ने 'सगालासा' ध्रुव और प्रहलाद के आख्यान लिखे हैं। गीता के प्रथम गुजराती अनुवादक पं० धनराजे ने भागवत के एकादश स्कंध का भी अनुवाद किया। तृतीय स्कंध की के आधार पर कपिल मुनिन आख्यान रचा स ने भागवत

के एकादश स्कंध को उतारने का प्रयत्न किया था। गोपाल ने रासलीला और कृष्ण-भक्ति के पदों की रचना की। अविचल नामक कवि ने 'भागवत षष्ठ स्कंध' की रचना की। सारस्वत ब्राह्मण बैकुंठ ने 'ध्रुवाख्यान, नासिकेतआख्यान, आदि काव्य ग्रंथ लिखे। नरसिंह नवल नाम के कवि ने 'ओखाहरण' की रचना की। विश्वनाथ जानी ने भी कृष्ण-विषयक उत्कट काव्य ग्रंथ लिखे है। 'प्रेम पचीसी' 'चातुरी चालसी' दो मुख्य ग्रंथ है। प्रेम पचीसी में भक्ति-भाव से ओत-प्रोत २५ पद है तथा चातुरी चालसी में केवल १० पद ही मिलते हैं प्रेम पचीसी में भागवतानुसार उद्धव-गोपी संवाद का बड़ा ही रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन है। गुजराती विद्वान् श्री अनत-राय रावल के शब्दों में—पचीस पद नी भक्तिरसे छलकाती आ सुंदर काव्य कृति मां श्री कृष्ण ना जन्मदाता तेमज पालक उभय मातापितानुं कृष्णवात्सल्य, कृतज्ञता, उभराता श्रीकृष्णनो नद अने यशोदा प्रत्येनो भक्तिभाव अने कृष्ण विरह विह्वल व्रजांगनाओनीं प्रेमलक्षणा कृष्ण-भक्ति ए सर्वनु भावोत्कट निरूपण थयुं छे।[1]

वणिक कवि द्वारकादास ने भी कृष्ण-लीला के पदों की रचना की। वल्लभ भट्ट ने दशम स्कंध को छोड़कर भागवत का गुजराती में अनुवाद किया, और जगन्नाथ ने सुदामा-चरित काव्य लिखा। नारायण नाम के कवि ने राधा कृष्ण बिहार के ग्यारह पद लिखे।

राजे रत्ना और रणछोड़ की कविता में हमें पुनः एक बार नरसिंह, मीरां और प्रेमानन्द के काव्य जैसा आनन्द प्राप्त होता है। रास पंचाध्यायी, गोकुललीला, विरहगीता, और बारहमासी ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं। न्हानालाल के शब्दों में 'रत्नो खरे खर साधू रत्ने हता'। राधा की वियोग दशा का चित्रण इस कवि ने बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया है। कपडवंज निवासी रणछोड़ ने भी चतुरी, दशावतारलीला, राधाविहार, नासिकेताख्यान और कृष्ण-विषयक पदों की रचना की। इनके पदों में कोई नवीनता नहीं मिलती।

डाकोर निवासी द्वारका ने भी गोपी और भक्ति विषयक पदों की रचना की है। अन्य कवियों में रामकृष्ण, थोवण, और रघुनाथ ने भी कृष्णलीला का गुणगान किया है। रामकृष्ण ने कृष्णलीला रासपंचाध्यायी और प्रेम लक्षणा के सैकड़ों पदों की रचना की है। थोवण ने राधिका के अबोला तिथि, महीना और कृष्ण लीला के पदों की रचना की है। रघुनाथ ने प्रेमपचीसी, तिथि, महीना, विरह, की गरबी, तथा दशम स्कंध विषयक गरी-बीओं की रचना की। शान्तिदास ने भी कृष्ण गोपी रास विषयक पदों की सर्जना की। आख्या-नात्मक कविता में नागरकवि कालिदास को प्रहलादाख्यान, ध्रुवाख्यान, तथा लज्जाराम कृति अभिमन्यु आख्यान, गोविन्दराम कृत रूक्मिणी विवाह, सुभद्रा हरण, सतभामा नुं रूसणु और हरिश्चन्द्राख्यान नामक काव्यों की रचना की। अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के कवि त्रिकमदास ने प्रेमपचीसी, डाकोरलीला, और रूक्मिणी विवाह जैसी कृतियों की रचना की। अमरेली के साधु मूलदास ने भागवत ना बीजोत्कव की रचना अपनी रीति से की। इस

---

१ गुजराती साहित्य पृ० १४५

प्रकार अठारहवीं शताब्दी में प्राप्त होने वाले कृष्ण-विषयक साहित्य पर भागवत का प्रभाव स्पष्ट है।

कुछ निर्गुणोपासक कवियों ने भी कृष्णविषयक पद लिखे। इन कवियों ने जहाँ एक ओर ज्ञान की सरिता बहाई वहीं दूसरी ओर प्रेम का स्रोत भी बहाया। ऐसे कवियों मे नरहरिदास, अखा, धीरा, भोजा भगत, आदि प्रमुख हैं। नरहरिदास की दो रचनाएं कृष्ण से से संबंधित मिलती है—आनन्दरास और गोपीउद्धव संवाद। आनन्दरास का विषय कृष्ण की रासलीला से नितान्त भिन्न है। कवि ने सारी रचना में आनन्द स्वरूप परब्रह्म की भक्ति, सत-सग तथा प्रपंचत्याग की महिमा का गान किया है। गोपी उद्धव संवाद की रचना का आधार भागवत का गोपी उद्धव संवाद होते हुए भी कवि ने अपने ज्ञानमार्गी होने के कारण उद्धव के तर्कों को विस्तार एवं मनोयोग से से लिखा है।

अखा ने वेदान्ती ग्रंथो के साथ ही साथ भागवत का भी मनन किया था। श्री अनंत-राय रावल के शब्दों में :

१०-११ मां कड़वामांना (अखेगीता ना) भक्त लक्षणों भागवत नां भक्तलक्षणों नी याद आप छे, अखाए भागवत मां कृष्ण-उद्धव संवाद मां संत लक्षणों नु अक काव्य रच्यु छे ते थी भागवत नी ते ज्ञाता लागे छे : 'चरणे चरणे आत्मविद्या', 'वाली अने' 'संसार सागर ऊपरे अ सेतु बांध्या बाट' जेवी आ कृति मां अखा नी विषय परनी पकड़े अने वेनी साथे नो तेनी समरसता अ भाषा नो प्रसाद पण आणो आप्यो छे, आ काव्य मां भक्ति नुं अखाए करेलु गौरव तेना पूर्वाश्रमी शुद्धाद्वैती संस्कार तेमज-गीता-भागवत नी असर नुं परिणाम हशे।[1]

आली सब सखियन में कवन श्याम,
शां शां रूप वखाणु संतो शां शां रूप वखाणु,
हरि कुं हेरतां रे सखि में री हेराणी—

उपर्युक्त पदों में स्पष्ट रूप से प्रेमलक्षणा और भागवत भक्ति का असर देखा जा सकता है। भागवत, अखा के लिए प्रेरणास्थल रही है।

प्रसिद्ध काफियां लिखने वाले धीरा ने भी रासलीला और भक्ति के पदों की रचना की है। वार, तिथि और महीनों के आधार पर कवि ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गान किया है। भोजा भगत ने भी 'नाथ मोरी अरज सुणो अविनासी हूं तो जनमो जनम तोरी दासी' जैसी भक्ति वाली पंक्तियों की रचना की है। नरभेराम ने गजेन्द्र मोक्ष, कंसवध, नाग दमन, वामनाख्यान और सत्यभामा नुं रूसणुं जैसी कृतियों की सर्जना की। रेवाशंकर ने डाकोर-लीला और कृष्णलीला, मोतीराम ने तिथियों महीना, प्रेमरस, रासलीला, दाणलीला तथा हरिभट्ट ने कृष्ण-विषयक अनेकों पदों की रचना की है। गिरधर ने गोकुल लीला, मथुरालीला, राधा-विरहना बारमास तथा भक्ति-शृङ्गार से ओत-प्रोत गरबिओं और पदों की रचना की है।

---

१ गुजराती साहित्य, पृ० १८५

स्वामी नारायण सम्प्रदाय के मुक्तानन्द ने उद्धवगीता वीरजा आख्यान की रचना की और विरह और बारमासी पदों की रचना की।

रंग भर सुन्दरश्याम रमे
लटकाला हो लाल मनमारु लधुं रे लटके तारे
छेला तारु छोगु माली मोही हुँ बनमाली रे

जैसे सुन्दर पदों के रचयिता स्वामी ब्रह्मानन्द को कौन भूल सकता है। इनके संबंध मे श्री के० एम० मुंशी के विचार उल्लेखनीय हैं—'कोईक कोईक ठेकाणे तो भालण, प्रेमानन्द, के मुक्तानन्द करता ये सरस शब्दों ते वापरी शके छे। अने दयारामनी चमकथी जुदीं छता तेवी ज मोहक चमक तेमा दिखाये छे।' प्रेमसखी ने प्रेमलक्षणा भक्ति के गीत गाये हैं। 'हो रसिया में तो शरण तिहारी' जैसे पदों पर भागवत का प्रभाव स्पष्ट है।

कुछ गुजराती स्त्रियों ने भी काव्य-रचना की है। इनमें उल्लेखनीय हैं - गबरीबाई, जिन्होंने कृष्ण बाललीला, तिथिओं तथा बार की रचना की है। कृष्णाबाई ने रुक्मिणी हरण तथा कृष्णना हालरडा गाया है और राधाबाई ने भागवत के विभिन्न प्रसंगों पर लिखा है।

स्वामी प्राणनाथ, प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक, एक महान संत एवं समाज सुधारक थे। उनके द्वारा लिखित 'श्री प्राणनाथ वचनामृत' के चार खंडों—रास, कलश, प्रकाश, कीर्तन पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव परिलक्षित होता है। यथा—

कोए सखी रे हुती गाए दोहती, दूध घोणियो रे हाथ मांहे।
एणे समे वेण थई वल्लभनी, पड़ी गयो घोणियों रे तेणे ताए।
कोई सखीरे काम करे घर मवे, आडो ऊभो ससरे पत जेह।
वेण सुखी रे पाद्व देई निसरी, एणी दृष्ट मां सरुप सनेह।
कोई सखी रे वात करे पतसूं, ऊभी घबरावे रे बाल।
एणे समे वेण थे वल्लभ नी, पड़ी गयो बाल तेणे ताल।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन गुजराती साहित्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव स्पष्ट एवं व्यापक रहा है। गुजराती कृष्ण-भक्त कवियों ने संभवतः जितनी प्रेरणा इस ग्रंथ से प्राप्त की, उतनी अन्य किसी से नहीं। श्रीमद्भागवत ने न केवल गुजराती साहित्य की शरीर-रचना ही की, बल्कि उसमें प्राणों का संचार कर उसे वह अमरत्व भी प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप उसकी महत्ता एवं प्रभुता आज भी अक्षुण्ण एवं अखंड है।

अप्रस्तुत विधान

रामकुमारी मिश्र

काव्य विशिष्ट शब्द और अर्थ का संयोग है।[१] पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा रमणीय अर्थ का प्रदिपादन करने वाले शब्द के रूप में की है,[२] किन्तु यह लक्षण अपूर्ण होने के कारण कुछ लोगों को मान्य नहीं, क्योंकि काव्य में सदैव शब्द के अर्थ में रमणीयता नहीं होती, वह तो पूरे वाक्य के कारण होती है, अतः रमणीय अर्थ देने वाले वाक्य को ही काव्य कहा जाना चाहिये। किन्तु वाक्य में अर्थ की रमणीयता के साथ ही शब्द चमत्कार भी अपेक्षित होता है। फलतः शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना को काव्य मानना अधिक युक्तियुक्त होगा।[३]

शब्दार्थ विशिष्टता की कल्पना अनेक प्रकार से की जाती है। यह कहीं अनुभूति रूप होती है, कहीं चमत्कारमय और कहीं स्वभाव कथनमात्र।[४] जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति की उक्ति अथवा कल्पना भिन्न होती है उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्तियों में (अर्थात् वाणी या कथन मे) विभेद होता है। वाणी या कथन के विविध प्रकारों का ही नाम अलंकार है।[५]

अलंकार वाणी के विभूषण हैं। सामान्य से सामान्य बात अलंकारों से विभूषित होकर विशेष मनोहरता से सम्पन्न हो जाती है अतः अलंकार कथनमात्र न होकर चमत्कार-पूर्ण उक्ति हैं। अलंकार कथन की ललित भंगिमा हैं। ये उक्ति वैचित्र्य के भिन्न-भिन्न रूप भी हैं। यह वैचित्र्य शब्द के विशेष प्रयोग या अर्थ की भंगिमा से सम्पादित होता है। अतः अलंकारों के दो भेद किये जाते हैं —

(१) शब्दालंकार तथा (२) अर्थालंकार।

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह।

२. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

३. काव्यशास्त्र : डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० १०।

४. वाङ्मय विमर्श : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १६३।

५ अनन्ताहि तेषां प्रकारा एव अलंकारा ।

काव्य में इन दोनों प्रकार के अलकारो का प्रयोग प्रचुर परिमाण में मिलता है। अलकारो का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक है। वस्तु या व्यापार को तीव्र करने एवं रूपगुणो का उत्कर्ष दिखाने के लिये ही अलकार प्रयुक्त किये जाते हैं।[१] डॉ० भगीरथ मिश्र[२] ने अलंकारों के प्रयोग की छः परिस्थितियों का उल्लेख किया है —

(१) जहाँ हम किसी तथ्य, वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करना चाहते है वहाँ अप्रस्तुत की योजना करने में अलंकार का प्रयोग होता है।

(२) जहाँ किसी भाव को स्पष्ट करना चाहते हैं वहाँ पर हम बल, निषेध, अत्युक्ति, कार्य-कारण सम्बन्ध, हेतु-कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते हैं। इस प्रकार वहाँ अलंकार स्वयमेव ही आ जाते है।

(३) कहीं-कहीं क्रम, असंगति तथा संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग में अलंकार रहते हैं।

(४) कहीं विरोध या वैपरीत्य की विशेषता द्वारा कथन को प्रवीण बनाना चाहते हैं और अलंकार का प्रयोग करते हैं।

(५) कहीं हम निन्दा या प्रशंसा में दूसरा भाव छिपाकर व्यंग्य से कुछ और कहना चाहते हैं और अलंकार का समावेश हो जाता है।

(६) कहीं शब्द के ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी चमत्कारिक प्रयोगों द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है।

तात्पर्य यह है कि अलंकार एक प्रकार की सुष्ठु अभिव्यंजना प्रणाली है। सुधांशु जी[३] अलंकारों को भाव प्रकाशन के भिन्न-भिन्न ढाँचे मानते हैं। वे उन्हें वर्णन के ढंग मात्र वर्णित करते हैं। वे न तो भाव हैं न वस्तु ही।

प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत

इस सुष्ठु अभिव्यंजना प्रणाली के दो पक्ष हैं। एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत। कवि का वर्ण्य ही प्रस्तुत है। अलंकार-शास्त्र में इसे ही उपमेय कहा जाता है। प्रस्तुत के लिये प्रासंगिक, प्राकरणिक, प्रकृत या प्रधान शब्दों का भी व्यवहार होता है। कवि के लिए समग्र सूक्ष्म अथवा स्थूल जगत प्रस्तुत है, वर्ण्य है, उपमेय है। किन्तु कवि सामान्य वर्णन मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी दृष्टि वर्ण्य के साथ-साथ उसी के समान गुण, धर्म वाली वस्तुओं की ओर भी जाती है। ये ही अप्रस्तुत हैं। अवर्ण्य, अप्रकरणिक, अप्रासंगिक, अप्राकृत या उपमान नामों से भी इन्हें अभिहित किया जाता है।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२६।

२. काव्यशास्त्र : डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० १७०।

३ काव्य में अ[illegible] डा० लक्ष्मी सुधांशु पृ० ३४ ३७

अप्रस्तुत विधान

किसी भी काव्य में प्रस्तुत की योजना के साथ-साथ अप्रस्तुत योजना भी रहती है जो प्रस्तुत भाव या भावना (वर्ण्य) के उत्कर्ष में साधन रूप होती है। अलंकारों द्वारा भी यही कार्य सम्पादित होता है। इस प्रसंग में शुक्ल जी[1] का अभिमत उल्लेखनीय है —

"अलंकार चाहे अप्रस्तुत योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुत प्रसंशा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध आदि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के लिए ही।"

चाहे विशेष्य के रूप में हो या विशेषण रूप में, क्रिया हो या मुहावरा, बाहर से आगत ऐसी काव्य-योजना जो प्रस्तुत के भाव को उद्दीप्त कर सकती है, अप्रस्तुत के अन्तर्गत वर्णित हो सकती है। सटीक अप्रस्तुतों के लिए आवश्यक होगा[2] कि वे कवि-कल्पना द्वारा प्रसूत हों, सादृश्य अथवा साधर्म्य पर आधारित हों, प्रस्तुत के प्रति उत्तेजक हों और शोभातिशायी हों। वस्तु का सजीव वर्णन करने के लिए और सादृश्य तथा भाव को तीव्र करने के लिए प्रभाव-साम्य का आश्रय लेकर अप्रस्तुत योजना की जाती है।[3] अप्रस्तुतों की यही योजना अप्रस्तुत विधान है। अप्रस्तुत-विधान में ही कवि का अन्तर्जगत सहज ही प्रकाशित होता है और इसी के माध्यम से पाठक कवि की मनोभूमि तक प्रवेश कर पाता है। काव्य स्वयं मानसिक प्रक्रिया होने के कारण कवि की चित्तवृत्तियों का प्रकाशक होता है। काव्य में इन चित्तवृत्तियों का प्रकाशन अप्रस्तुत विधान द्वारा ही सम्भव है एतदर्थ अप्रस्तुत-विधान के चित्तवृत्तात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। चित्तवृत्तियों के ही प्रस्तार से भावों की उत्पत्ति होती है और भावों से रसादि की। यह रसादि ही ध्वनि का विषय है।

अप्रस्तुत विधान में सादृश्य का सर्वाधिक महत्व है। वर्ण्य को स्पष्ट करने के लिए उसी समान रूप, गुण वाली वस्तु की ओर कवि आकर्षित होकर अप्रस्तुतों के जगत में प्रवेश करता है और काव्य में उन्हें सँजोता है। इन्हें ही अलंकारशास्त्री अलंकार नाम से अभिहित करते हैं किन्तु काव्य के अन्तर्गत यह प्रक्रिया वस्तुतः अप्रस्तुत विधान कही जायगी। जब सादृश्य व्यक्त करने के लिए कवि कोई अप्रस्तुत योजना करता है तो वह योजना सादृश्य-

---

१. चिन्तामणि : भाग १, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४७।

२. अलंकार विमर्श : कृष्ण नारायण प्रसाद मागध, पृ० ४८।

३ पण्डित रामदहिन मिश्र, पृ० १२४

मूलक अलंकार कहलाती है। अलंकार साहित्य में ऐसे अलंकारों का विशेष महत्व है।[†] किन्तु कवि की दृष्टि सदैव प्रस्तुत के सादृश्य पर ही नहीं रहती। वह आवश्यकतानुसार वैधर्म्य की ओर भी मुड़ती है और इस प्रकार विरोधमूलक अलंकारों की सृष्टि होती है। विरोध से पूर्ण अप्रस्तुत योजनायें काव्य में अतिशय चमत्कार उत्पन्न करती हैं।[1] इस प्रकार अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत अलंकार के ये दोनों ही पक्ष अन्तर्भूत हैं।

स्थूलतः अलंकार योजना कुछ सीमा तक अप्रस्तुत विधान है। किन्तु अलंकार योजना का क्षेत्र सीमित है, जब कि अप्रस्तुत-विधान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक। उदाहरणार्थ, कुछ अलंकार ऐसे है जिनमें अप्रस्तुत रहता ही नहीं, यथा, स्वभावोक्ति अलंकार। इसी प्रकार अप्रस्तुत विधान की कुछ शैलियाँ ऐसी हैं जो मान्य अलंकारों के द्वारा निर्दिष्ट नहीं हो पातीं। यथा, मानवीकरण या प्रतीक। अलंकारों द्वारा 'ध्वनि' का भी स्पष्टीकरण नहीं हो पाता (केवल अलंकार-ध्वनि ही संभव है)।

पं० रामदहिन मिश्र ने भाषा को अप्रस्तुत योजना का मुख्य अंग मानते हुए शब्द, वाक्य, भावानुकूलता आदि का विस्तार से वर्णन किया है। किन्तु हमारे विचार से ये अप्रस्तुत योजना के आवश्यक अंग नहीं हैं। उनके द्वारा "अप्रस्तुत योजना का विचार' शीर्षक अध्याय में संकलित सामग्री अवश्य ही महत्वपूर्ण है।[2]

अप्रस्तुतों के वर्गीकरण की आवश्यकता

यद्यपि अलंकारों की संख्या अगणित मानी जाती है और उनके वर्गीकरण के अनेक प्रयास हुए हैं तथापि अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में न तो ऐसी कोई सम्यक् जानकारी ही प्राप्त है और न उनका वर्गीकरण का ही कोई श्लाघ्य प्रयास हुआ है। सूफी काव्य के अप्रस्तुत विधान के विस्तृत अध्ययन के लिए यह आवश्यक होगा कि अप्रस्तुतों की सही-सही परिभाषा की जाय और अप्रस्तुतों के क्षेत्र (सीमा, विस्तार) को निर्धारित करते हुये उनके वर्गीकरण प्रयास किया जाय। प्रस्तुत शोध निबन्ध का यही मूल उद्देश्य है।

---

†तुलनार्थ—रामदहिन मिश्र : यह सादृश्य दो प्रकार का होता है—

(१) शब्द या वाक्य सादृश्य—इनको लेकर जो अलंकार-योजना की जाती है वह हमारे हृदय को छूती नहीं—काव्य में इसका उतना महत्व नहीं।

(२) स्वरूप का सादृश्य—यह भी काव्योपयुक्त नहीं कहा जा सकता।...प्रभाव साम्य से कविता का महत्व बढ़ जाता है। पृ० १७। 'प्रभाव साम्य के लिए आवश्यक नहीं कि वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण का पूर्णतः साम्य हो।' पृ० ६४, वही।

१. काव्य में अप्रस्तुत योजना : पण्डित रामदहिन मिश्र, पृ० १०१।

२ वही, पृ० २० २५, ७१ १०८

अप्रस्तुत की परिभाषा

अप्रस्तुत का साधारण अर्थ होगा -- जो प्रस्तुत नहीं है अर्थात् जो वर्ण्य नहीं है किन्तु जिसका उल्लेख या प्रयोग कवि द्वारा कथन में चमत्कार लाने या वस्तु की प्रतीति कराने के लिए किया जाता है। उपमा अथवा रूपक अलंकार में यह कार्य उपमान द्वारा सम्पादित होता है। फलतः अप्रस्तुत के स्थान पर जो शब्द प्रयुक्त मिलता है वह उपमान ही है।† किन्तु अप्रस्तुत और प्रस्तुत नवीन शब्द नहीं हैं। अलंकार शास्त्र में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' नामक एक पृथक् अलंकार ही है। वस्तुतः अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है जो कवि द्वारा लाई जाती है।

उपमान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सुप्रसिद्ध ही हो। कवि ऐसे उपमानों का विधान करने के लिये स्वतन्त्र है जो लोक में न दिखाई दें और कवि की कल्पना मात्र से प्रसूत हों। फलतः उपमेय-उपमान में न केवल वस्तुगत साम्य देखा जाता है वरन् भावो और विचारों तक में यही साम्य लक्षित होता है। यदि उपमान को व्यापक क्षेत्र में ग्रहण किया जा सके तो शायद वह अप्रस्तुत का समानार्थी माना जा सकता है।

अप्रस्तुतों की आवश्यकता

अप्रस्तुतों की योजना काव्य का प्राण है और कवि कर्म की कसौटी भी। अप्रस्तुतो द्वारा प्रभावोत्पादकता, प्रेषणीयता, भावों की विशद्ता और रसनीयता नामक गुण उत्पन्न होते हैं जो काव्य को चमत्कारी एवं आनन्ददायक बनाते हैं। अप्रस्तुतों में जितनी ही नवीनता होगी, भाव-व्यंजना में उतना ही चमत्कार आयेगा और सहृदयों को वह उतना ही आह्लादित कर सकेगी। किन्तु अप्रस्तुतों की सम्यक् योजना कर पाना सहज नहीं होता। जो कवि जितना ही अनुभवी होगा, उसकी अप्रस्तुत योजना उतनी ही हृदय को स्पर्श करने वाली एवं सफल होगी। वस्तुतः यही प्रेषणीयता है।‡ अलंकारों द्वारा भावों में तीव्रता तथा प्रेषणीयता लाई जा सकती है।

अप्रस्तुतों का स्वरूप : एक विश्लेषण

अप्रस्तुतों के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिये निम्नांकित ९ प्रकार की स्थितियाँ सहायक हो सकती हैं—

१. अभिव्यक्ति का प्रकार होने के कारण कोई भी अप्रस्तुत

(क) शब्द रूप में प्रयुक्त हो सकता है, यथा, उपमान (उपमा, रूपक में)।

(ख) शब्द समूह या वाक्य हो सकता है, यथा, उत्प्रेक्षा।

---

†तुलनार्थ—रामदहिन मिश्र : प्रस्तुत और अप्रस्तुत उपमेय और उपमान के स्थान पर ही माने जाते हैं। 'काव्य में अप्रस्तुत योजना', पृ० ६ तथा पृ० ७४।

‡तुलनार्थ रामदहिन मिश्र वही पृ० १०१ १०३।

(ग) वाक्य समूह हो सकता है—दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि।

(घ) प्रत्यक्ष रूप में न रहकर शब्द या वाक्य की ध्वनि हो सकता है।

२. प्रस्तुत के अनुसार भी अप्रस्तुतों का विश्लेषण सम्भव है। यथा—

(अ) किसी एक प्रस्तुत के लिये एक अप्रस्तुत प्रयुक्त हो सकता है।

(आ) एक प्रस्तुत के लिये एक से अधिक अप्रस्तुत व्यवहृत हो सकते हैं। ऐसे अप्रस्तुत संश्लिष्ट अप्रस्तुत कहलायेंगे। अप्रस्तुतों के अनेकशः प्रयोगों का प्रयोजन सादृश्यमात्र न होकर साधर्म्य का उत्कर्ष वर्णन भी रहता है। ऐसी स्थिति में जो अप्रस्तुत मुख्य होगा उसे प्रधान अप्रस्तुत और जो सहायक रूप में होगा उसे गौण अप्रस्तुत कहेंगे।

३. यह भी संभव है कि अप्रस्तुत प्रत्यक्ष न होकर गम्य या लुप्त हो। यथा—समासोक्ति में।

४. ऐसा भी हो सकता है कि केवल अप्रस्तुत हो और प्रस्तुत न हो किन्तु अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध हो जाय। यह स्थिति ऐसी है जिसमें अप्रस्तुत के प्रयोग के लिये प्रस्तुत का होना अनिवार्य नहीं है। यथा—अप्रस्तुत प्रशंसा में।

५. अप्रस्तुत सादृश्य या साधर्म्य प्रकट कर सकता है और विरोध या वैधर्म्य भी प्रकट कर सकता है, जैसे—क्रमशः उपमा अथवा विरोधाभास, विषम आदि में।

६. अप्रस्तुत किसी सांकेतिक भाषा या अपूर्ण अप्रस्तुत का अंग बन सकता है, यथा—प्रतीक।

७ अप्रस्तुत किसी वाक्य के अन्तर्गत अलंकृत कथन का द्योतक हो सकता है, यथा—लोकोक्ति और मुहावरे।

८. यह भी संभव है कि विभिन्न प्रकार के अप्रस्तुत साथ-साथ प्रयुक्त हों। इन्हें हम मिश्र अप्रस्तुत कह सकते हैं। इनके अन्तर्गत अलंकारों के संकर और संसृष्टि नामक भेद अन्तर्भूत होंगे।

९. अप्रस्तुत परम्परा से ग्रहीत हो सकते हैं और सर्वथा नूतन भी हो सकते हैं। ये सर्वथा औचित्यपूर्ण और सौन्दर्य उत्पादक हैं और नहीं भी। वे सदोष भी हो सकते हैं।

इस प्रकार अप्रस्तुत के स्वरूप को समझने के लिये डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा निरू-
ारों की वे छः स्थितियाँ, जिनका उल्लेख आरम्भ में किया गया है, कुछ हद तक सहा-
होती हैं।

ों का क्षेत्र

अप्रस्तुतों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। समस्त विश्व इसमें अन्तर्भूत है, किन्तु इन
का क्षेत्र कवि-दृष्टि या कवि प्रतिभा के अनुसार सीमित भी हो जाता है

अप्रस्तुतों को का समर्थ माध्यम मानकर उपमान का आवश्यक गुण प्रेषणीयता स्वीकार किया गया है।[1]

अप्रस्तुत सादृश्यमूलक हो सकते हैं और विरोधमूलक भी।†

मूर्तता या अमूर्तता और चेतनता या अचेतनता अप्रस्तुतों के क्षेत्र में बाधक नहीं। अमूर्त के लिए मूर्त, अचेतन के लिए चेतन अप्रस्तुतों का व्यवहार सम्भव है।

बहुधा अप्रस्तुतों के क्षेत्र की सीमा निर्धारित करने के लिए उपमानों को विविध वर्गों में बाँटा जाता है। वचनदेव कुमार[2] ने उपमानों को पाँच वर्गों में विभाजित किया है—

(१) प्राकृतिक : परम्परित या रूढ़ तथा अपरम्परित, (२) लौकिक, (३) काल्पनिक, (४) पौराणिक, (५) शास्त्रीय, यथा वैद्यक, ज्योतिष सम्बन्धी।

राजपति दीक्षित[3] ने तुलसीदास के उपमानों को पशु वर्ग और वनस्पति वर्ग के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। डॉ० ओम प्रकाश शर्मा[4] ने उपमानों को पाँच क्षेत्रों में विभाजित करके उनकी विवेचना की है। ये क्षेत्र हैं—

(१) प्राकृतिक उपमान, (२) सांस्कृतिक उपमान, (३) वैयक्तिक उपमान, (४) साहित्यिक उपमान, (५) सामयिक उपमान।

डॉ० शर्मा का अभिमत है कि प्रकृति के उपमानों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सार्वत्रिकता है और इसीलिए साधारणीकरण की सबसे अधिक योग्यता उन्हीं में है। इसीलिए काव्य के अप्रस्तुत क्षेत्र को प्राकृतिक उपमानों ने सर्वाधिक आच्छादित कर रखा है। वे वैयक्तिक उपमानों के अन्तर्गत ही नवीन उपमानों का विवेचन करते हैं।

१. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का विवेचन : डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, पृ० ४८८-४८९ तथा रामदहिन मिश्र : काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ७३।

†तुलनार्थ—रामदहिन मिश्र : विरोधात्मक विशेषणमूलक उपमान—ये शब्द रूप में आते हैं, ये बड़े व्यंजनापूर्ण होते हैं। इसमें अप्रस्तुत योजना की बड़ी बारीकियाँ दीख पड़ती हैं। यह विरोध, विरोध रूप में दीखता तो है पर अन्तरङ्ग में पैठते ही इसका विरोध न रहकर मार्मिक भाव का व्यंजक हो जाता है। यह भी एक प्रकार की अप्रस्तुत योजना ही है। 'काव्य में अप्रस्तुत योजना', पृ० १२७।

२. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत : डॉ० वचनदेव कुमार, पृ० २२६।

३. तुलसी और उनका युग : राजपति दीक्षित, पृ० ४५८।

४. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का विवेचन : डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, पृ० ४८८-४९४

प० रामदहिन मिश्र[1] ने उपमानो की कइ कोटिया मानी है यथा, सामयिक उपमान असुंदर उपमान प्रतीकात्मक उपमान लाक्षणिक उपमान विशेषण विशेष्य विशेषण विपर्यात्मक, विरोधात्मक विशेषणमूलक, भाववर्द्धक उपमान, भावाकर्षक उपमान, जटिल उपनान तथा मूर्त-अमूर्त उपमान। अन्तिम कोटि को पुनः विभाजित करते हुए उन्होंने मूर्त से मूर्त, अमूर्त से अमूर्त, मूर्त से अमूर्त, अमूर्त से मूर्त, मूर्तामूर्त। इन पाँच कोटियों का उल्लेख किया ह।

मागध ने[2] मूर्तता-अमूर्तता के आधार पर अप्रस्तुत के दो प्रकार माने जाते हैं—मूर्त अप्रस्तुत तथा अमूर्त अप्रस्तुत। उन्होंने मूर्त अप्रस्तुतों को इंद्रियसंवेदना के आधार पर पुन पांच प्रकारों में विभाजित किया है—रूपमूर्ति, रसमूर्ति, गंधमूर्ति, स्पर्शमूर्ति तथा नादमूर्ति। अमूर्त अप्रस्तुतों के लिए कल्पना शक्ति का खिचाव आवश्यक है। ये दो वर्गों मे रक्खे गये हैं—मानसिक अमूर्तता वाले तथा प्राकृतिक अमूर्तता वाले अप्रस्तुत।

उपर्युक्त प्रकार के विभिन्न वर्गीकरणों से यद्यपि अप्रस्तुतों का विशाल क्षेत्र सूचित होता है किन्तु इन्हें अन्तिम रूप से स्वीकार करने पूर्व अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्म विवेचना आवश्यक होगी।

अप्रस्तुत विधान : स्वरूप

अप्रस्तुत विधान अप्रस्तुतों के प्रयुक्त होने या उनके वर्णित किये जाने का माध्यम या साधन हैं। †

यह विधान शैलियों का भी निरूपण है अतः कुछ हद तक यह 'रीति' का परिचायक है। 'रीति' काव्य का वह तत्व है जिसमें रस प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है। ध्वनिवाद मे रीति-तत्व का भी निरूपण आवश्यक है।[3]

कथन का सशक्त साधन होने के कारण यह अलंकार्य के साथ ही अलंकृति भी है, इसलिए अप्रस्तुत विधान के अंग रूप में अलंकार विधान की भी विवेचना आवश्यक है।‡

१. काव्य में अप्रस्तुत योजना : पण्डित रामदहिद मिश्र, पृ० ११३-१४८।

२. अलंकार विमर्श : कृष्ण नारायण प्रसाद मागध, पृ० ५४-५५।

† पण्डित रामदहिन मिश्र "उपमान के स्थान पर शुक्लजी ने अप्रस्तुत विधान और अप्रस्तुत योजना दो नए शब्दों का प्रयोग किया······हमें तो अप्रस्तुत विधान की अपेक्षा अप्रस्तुत योजना शब्द ही उपयुक्त प्रतीत होता है"—काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १-३।

३. साहित्य दर्पण : कविराज विश्वनाथ, टीकाकार : डॉ० सत्यव्रतसिंह, भूमिका पृ० ५३।

‡ तुलनार्थ—साहित्य दर्पण की टीका (उपर्युक्त), चतुर्थ परिच्छेद, पृ० २९०-२९८। अलंकार ध्वनि के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है······जो प्रधान तथा व्यंग्य तत्व है वह अलंकरणीय वस्तु नहीं अपितु अलंकृति अथवा है

किसी भी अप्रस्तुत विधान के स्वरूप के दो अंग होंगे—

(१) बाह्य या मूर्त रूप विधान।

(२) अन्तरंग या अमूर्त रूप विधान। इसे भाव-विधान भी कह सकते हैं।

१. मूर्त रूप विधान

जिस रूप में वाक्यांश या वाक्य में अप्रस्तुत संयोजित (ग्रन्थित) होता है उसे हम अप्रस्तुत का मूर्त रूप विधान कहेंगे। इस विधान के निम्नलिखित प्रभाव होंगे—

(१)—**अप्रस्तुतों की उपस्थिति सूचक शब्द या शब्द समूह**–इन्हें हम **'वाचक'** नाम के अभिहित करेंगे। इन वाचकों की स्थितियों एवं इनके स्थितिजन्य मूल्य (Positional Value) का भी वर्णन अप्रस्तुत योजना का अभिन्न अंग है।

(२)—**वे शब्द समूह या वाक्य जिनमें कोई अप्रस्तुत प्रयुक्त हुआ हो**—

(क) यदि एक शब्द या एक ही वाक्य है—तो उपमा, रूपक जैसे अलंकारों की सम्भावना।

(ख) यदि दो या अधिक वाक्यों में अप्रस्तुत अभिव्यंजित हो तो प्रति—वस्तूपमा, दृष्टान्त आदि की सम्भावना।

(३)—**अप्रस्तुतों की संख्याएं**—किसी भी कृति में प्रयुक्त अप्रस्तुतों की कुल सख्या, जो भिन्न-भिन्न होगी।

(४)—**अप्रस्तुतों की पुनरावृत्ति**—एक ही अप्रस्तुत अथवा कई अप्रस्तुतों का पुनः पुनः प्रयोग। ये अप्रस्तुत एक ही प्रस्तुत या भिन्न-भिन्न प्रस्तुतों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं।

(५)—**अप्रस्तुतों में पर्यायों का होना**—किसी एक या कई अप्रस्तुतों के पर्यायवाची शब्दों का भी अप्रस्तुतों के रूप में प्रयोग।

(६)—**अप्रस्तुतों का देशी अथवा विदेशी स्वरूप तथा उनकी मौलिकता या रूढ़िता।**

(७)—**अप्रस्तुतों का स्थूल वर्गीकरण**—उन्हें सजीव तथा निर्जीव पदार्थों के रूप में पृथक् करके वर्गीकृत करना।

अप्रस्तुतों के मूर्त रूप विधान से हमारा अभिप्राय उस बाह्य ढांचे को प्रदर्शित करना है जो उसी रूप में अन्यत्र प्रयुक्त नहीं मिलता। शुक्ल जी ने अप्रस्तुतों के रूप-विधान के अन्तर्गत अप्रस्तुत योजना के उद्देश्यों पर ही विचार किया है।[१] अप्रस्तुतों के मूर्त रूप-विधान को यदि हम सरसरी नजर से देखें तो यह विवरणात्मक अधिक और विचारपूर्ण कम

१ आचार्य शुक्ल रस मीमांसा पृ० २७४ २९८।

होगा, किन्तु अप्रस्तुत विधान को समझने का यह अत्यन्त वैज्ञानिक प्रयास (Approach है। वस्तुतः यह ऐसा पक्ष है जिस पर अभी तक ठीक से विचार नहीं हुआ। अतः इस उद्देश्य से इस पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन अप्रस्तुत विभाग के अन्तर्गत आवश्यक होगा।

२. अमूर्त रूप विधान

अमूर्त रूप विधान अप्रस्तुतों के भावपक्ष से सम्बद्ध है। यह अप्रस्तुत विधान की अन्तरंग योजना को सूचित करता है। यदि मूर्त रूप विधान अप्रस्तुतों का शारीरिक ढाँचा है तो अमूर्त रूप विधान उसकी आत्मा है। यह शास्त्रीय अध्ययन है। यह अलंकार-शास्त्र को अपने अन्तर्गत समाहित करता है। किन्तु अलंकार निर्धारण ही इस विधान का प्रमुख अंग नहीं, ध्वनि भी इसमें अन्तर्भूत है। सुविधा के दृष्टि से इसे हम तीन विभागों में प्रदर्शित कर सकते हैं—

(१)—अलंकार विधान अर्थात् अप्रस्तुतों के प्रयोग के अनुसार अलंकारों का निर्धारण।

(२)—अलंकारों के वर्गीकरण के माध्यम से अप्रस्तुतों का विश्लेषण, उनका औचित्य उनके दोष, उनके द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति आदि।

(३)—प्रस्तुत के व्यंग्यार्थ का उल्लेख-ध्वनि सम्बन्धी विवेचना।

हम इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(१)—अलंकार विधान

अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास बहुत पहले से होता रहा है। आचार्य भामह; रुद्रट, मम्मट, रुय्यक आदि ने विभिन्न आधारों पर अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इनमें से आचार्य रुय्यक ने अपने ग्रन्थ "अलंकार सर्वस्व" में अर्थालंकारों को नवीन आधार पर वर्गीकृत किया है।† इस वर्गीकरण में रचना शैली का भी ध्यान रखा गया है। रुय्यक ने सादृश्य विरोध' शृंखलाजन्य, न्याय (तर्क, वाक्य, लोक) तथा गूढ़ार्थ प्रतीति ये पाँच आधार और इनके अन्तर्गत विभिन्न अलंकारों को वर्गीकृत किया। फिर भी कुछ अलंकार ऐसे रह गये जो इन वर्गों में नहीं आ सके। उन्होंने सादृश्य के द्वारा औपम्यमूलक अलंकारों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कसौटी प्रस्तुत की और सादृश्यमूलक अलंकारों में २६ अलंकार सम्मिलित किए।

आधुनिक शोधकर्त्ताओं ने अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार खोज निकालने की चेष्टा की है किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम मनोविज्ञान को प्रश्रय दिया। उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार की चित्तवृत्ति पैदा करती है।

---

† देखिए काव्य प्रकाश ———र आचार्य विश्वेश्वर, द्वितीय संस्करण पृ० ४४१।

[illegible]त वस्तु का उपरंजन तो करते ही हैं पर साथ ही अलंकृत वस्तु भी एक विशे[illegible]
[illegible]दा करती है। चित्तवृत्ति सादृश्य तथा विरोध के सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकती[illegible]
और शास्त्र में प्रचलित न्याय के आधार पर भी। अतः रुय्यक को भी मनोवैज्ञानिक
अलंकारों के वर्गीकरण का श्रेय दिया जा सकता है।

अर्थालंकार को एक अन्य प्रकार से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।[1]

(१) प्रतीयमान वस्तुरूप अर्थालंकार—यथा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति।

(२) प्रतीयमान औपम्यरूप अर्थालंकार—यथा रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति।

(३) प्रतीयमान रसभाव रूप अर्थालंकार—यथा, रसवत, प्रेय आदि।

[illegible]श्र ने[2] अलंकारों को इससे मिलती-जुलती अन्य तीन श्रेणियों में बाँटा है :—

(१) अप्रस्तुत वस्तु योजना रूप मे आने वाले—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।

(२) वाक्य वक्रता के रूप में आने वाले—व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि।

(३) वर्णविन्यास के रूप में आने वाले—अनुप्रास आदि।

प्रो० गजेन्द्र गडकर ने 'काव्य प्रकाश' की भूमिका में अलंकारों के वर्गीकरण के [illegible] तत्व माने हैं—

(१) सादृश्य, (२) विरोध, (३) प्रत्यासक्ति।

उन्होने सादृश्य तत्व के अन्तर्गत २०, विरोध के अन्तर्गत १० तथा प्रत्यासक्ति के [illegible]लकार रखे हैं।

(क) सादृश्य मूलक अलंकार—(१) उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय।
(२) उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, भ्रम।
(३) प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, दीपक, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, सामान्य, मीलित, प्रतीप, व्यतिरेक।

(ख) विरोधमूलक अलंकार—(१) विरोध, विषम, अधिक, विशेष, व्याघात।
(२) अतिशयोक्ति (चतुर्थ भेद), विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, अतद्‌गुण।

(ग) प्रत्यासक्ति—अप्रस्तुत प्रशंसा, सूक्ष्म, स्मरण।

---

[1] [illegible]दर्पण : टीकाकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, भूमिका, पृ० ५६।
[2] अप्रस्तुत योजना : पण्डित रामदहिन मिश्र ' पृ० ८।

डा० नगेन्द्र ने[1] अलंकारों के वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधारों की चर्चा की है। उन्होंने इसके छः आधारों का उल्लेख किया है—

स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कुतूहल।

ब्रह्मानन्द[2] ने संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों के विकास का अध्ययन करते हुए चित्तवृत्ति के आधार पर अलंकारों का विभाजन किया।

उनके अनुसार सादृश्य वस्तु तथा धर्म पर पृथक्-पृथक् आधारित हो सकता है। यही नहीं, सादृश्य में परिमाण एवं दृष्टिभेद भी हो सकता है। उन्होंने जो वर्गीकरण दिया है वह निम्नांकित प्रकार है :—

वस्तु सादृश्य—सादृश्य प्रतीति—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय। तद्रूप प्रतीत—रूपक, परिणाम, उल्लेख, अपन्हुति उपमेय का निगरण-उत्प्रेक्षा। उपमेय की प्रधानता-अतिशयोक्ति।

धर्म सादृश्य—आश्रय भेद—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त। एक धर्माभिसम्बन्ध-दीपक, तुल्ययोगिता।

इसके अतिरिक्त भी प्रस्तुत को अप्रस्तुत मानकर वर्णन करने तथा अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा ही प्रस्तुत की प्रतीति कराने के अनुसार समासोक्ति, रूप विशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसादि अलंकार होंगे।

अलंकारों को मनोवैज्ञानिक आधार पर वर्गीकृत करने का वस्तुतः यह प्रथम प्रयास है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सर्वग्राह्य स्वतन्त्र अलंकारों को अन्य अलंकारों से साथ अन्तर्भुक्त कर दिया गया है, क्योंकि उनकी पृथक् सत्ता अनावश्यक मानी गई है। उदाहरणार्थ—

उदाहरण—अलंकार उपमा से अलग नहीं है।[3]
प्रतीप अलंकार व्यतिरेक के अन्तर्भुक्त माना गया है।[4]
उल्लेख पृथक् अलंकार नहीं है।[5]

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८४-८६।

२. संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास : डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा पृ० १६६।

३. वही, पृ० १६६।

४. वही, पृ० २१६।

५. वही, पृ० २४७-२४८।

निदर्शना भी पृथक अलकार नही है [1]

अनन्वय को उपमा से पृथक माना है।

इधर डॉ० ओमप्रकाश शर्मा[2] ने मानसिक प्रक्रिया के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्त अलंकारों को छः वर्गों में बाँटा है। ये हैं—साधर्म्यमूलक, अतिशयमूलक, संगीतमूलक, नादसंगतिमूलक, विरोधमूलक तथा गोपनमूलक। इनमें से नादसंगतिमूलक के अन्तर्गत शब्दालंकारों को रखा गया है। शेष पाँच वर्गों में अर्थालंकार है। डॉ० शर्मा ने वर्गीकरण के पश्चात् विभिन्न अलंकारों के स्वीकृत रूपों एवं मानसिक प्रक्रिया में संगति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उनका विस्तार से वर्णन भी किया है।

स्पष्ट है कि इस वर्गीकरण में मानसिक प्रक्रिया को स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति-प्रकाशन के लिये प्रयुक्त न करके ज्ञात अलंकारों को उसी के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है। निस्सन्देह ऐसा प्रयास श्लाघ्य है किन्तु अलंकारों की अधिक संख्या होने के कारण यह वर्गीकरण सुलझा कम, उलझा अधिक प्रतीत होता है।

प्रत्येक वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी ज्ञात अलंकार सम्मिलित किये ही जायँ, यह आवश्यक नहीं। उदाहरणार्थ—साहित्य दर्पणकार तथा रसगंगाधरकार ने दो भिन्न अलंकारों को एक-सा स्वीकार किया है। एक को दीपक और तुल्ययोगिता एक प्रतीत हुए तो दूसरे को दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा एक से दिखे।

तुलसीदास में अलंकारों के वर्णन में शुक्लजी ने[3] प्रयोजन के अनुसार अलंकारों के वर्गीकरण की पद्धति अपनाई है। उन्होंने भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक, वस्तु के रूप का अनुभव तीव्र कराने सहायक, गुण का अनुभव तीव्र कराने में सहायक—इन चार वर्गों मे कुछ प्रमुख अलंकारों को रक्खा है। ऐसे वर्गीकरण के फलस्वरूप एक ही अलंकार एक-से अधिक वर्गों में सम्मिलित मिलता है।

तात्पर्य यह कि अलंकारों की संख्या ज्ञात होने पर भी उनकी अनन्त संख्या सम्भावित होने तथा किसी एक आधार के द्वारा सर्वसम्मत वर्गीकरण सम्भव न हो सकने के कारण अलंकार-विधान की समस्या सुलझी हुई प्रतीत नहीं होती।

हमारा वर्गीकरण : मनोवैज्ञानिक आधार

अप्रस्तुतों के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए हमने मनोवैज्ञानिक आधार पर अभिव्यक्ति की चमत्कारपूर्ण शैलियों को अपने ढंग से वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। इसमे

---

१. वही, पृ० १६७।

२. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन : डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, पृ० ४८३ ५३३।

३ गोस्वामी तुलसीदास शुक्ल, पृ० १९०

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच साहश्य, वैधर्म्य तथा गोपन की उत्तरोत्तर वृद्धि या न्यूनता के अनुसार कुछ अलंकारों की सम्पुष्टि की गई है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक आधार होते हुए भी इस प्रकार के वर्गीकरण में सम्भावनाएं ही नियामक तत्व के रूप में है। ये सम्भावनाएं भिन्न-भिन्न रूप में अप्रस्तुतों का प्राकट्य कर सकने में समर्थ हैं। ये सम्भावनाएँ कहीं वस्तु को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई हैं तो कहीं साधारण धर्म को अथवा व्यंग्य भाव (गोपनीयता) को। वाचक शब्दों के अनुसार भी सम्भावनाएं सम्भव हैं किन्तु उनके अनुसार किसी सम्भा-वना को व्यक्त करने का पृथक् प्रयास नहीं किया गया।

ये सम्भावनाएँ निम्नांकित प्रकार की हो सकती हैं। उनसे जिन अलंकारों की सृष्टि होती है उनका निर्देश उनके सम्मुख किया गया है—

१. जब अप्रस्तुत प्रस्तुत के सदृश हो अथवा साधर्म्य प्रकट करे—उपमा।

२. जब प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप हो अर्थात् जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पाया जाय। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत बढ़कर अप्रस्तुत की प्रतीति करा सके या अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत का अन्तर मिट जाय और दो होकर भी वे सभी प्रकार से समरूप प्रतीत हों—रूपक।

३. (क) जब प्रस्तुत अप्रस्तुत से बढ़कर हो—व्यतिरेक।
(ख) जब प्रस्तुत अप्रस्तुत से घटकर हो—प्रतीप।

४. जब पाठक की दृष्टि अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत पर केन्द्रित न होकर उनके साधारण धर्म पर केन्द्रित होने लगे। यह व्यापार सादृश्य कहा जा सकता है, ऐसी स्थिति में धर्म का उल्लेख वाक्य या वाक्यों के रूप में हो और सादृश्य तत्व पाया जाय—दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, तुल्ययोगिता।

५. जब प्रस्तुत (वर्ण्य) के समर्थन लिये किसी पुष्टि की आवश्यकता पड़े —अर्थान्तरन्यास।

६. जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत परस्पर विनिमयशील हों—उपमेयोपमा।

७. जब प्रस्तुत के तुल्य कोई अप्रस्तुत न लक्षित हो अर्थात् अप्रस्तुत के अभाव का वर्णन हो—अनन्वय, असम।

८. जब प्रस्तुत के लिये एक से अधिक अप्रस्तुत प्रयुक्त हों—
(क) संदिग्धता या भ्रम का भान—सन्देह, भ्रम।
(ख) एक ही प्रस्तुत का बहुविध वर्णन—उल्लेख।
(ग) प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत की स्थापना—अपन्हुति।
(घ) विकल्पावस्था—विकल्प।

९. जब अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत गुणों का आदान-प्रदान हो—तद्गुण, अनुगुण।

१० जब प्रस्तुत के रहते हुए भी अप्रस्तुत समान जान पड़े मीलित, उन्मीलित

११. जहाँ कथन (प्रस्तुत) से दूसरा अर्थ (अप्रस्तुत) निकले—**पर्यायोक्ति, मुहाव** ोक्तियाँ ।

१२. जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत या अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध हो—**समासोक्ति** योक्ति, **अप्रस्तुत प्रशंसा** ।

१३. (क) जहाँ सादृश्य की सम्भावना हो—**उत्प्रेक्षा** ।

(ख) जहाँ सम्भावना में हेतु लक्षित हो—**हेतूत्प्रेक्षा** ।

(ग) जहाँ हेतु के भा आगे बैर लक्षित हो—**प्रत्यनीक** ।

१४. जहाँ दृश्य अथवा व्यक्त रूप—प्रस्तुत से किसी अदृश्य अथवा अव्यक्त सत्ता—अप्रस्तुत का बोध हो—**प्रतीक** ।

१५. जहाँ अप्रस्तुत द्वारा विभिन्न प्रकार के **विरोध** व्यक्त हों—

(क) कारण के बिना कार्य—(१) **विभावना** ।

(ख) प्रबल कारण के होते हुये भी कार्य का न होना—(२) **विशेषोक्ति** ।

(ग दो समान बलशाली विरोधी कथन—(३) **विरोधाभास** ।

(घ) असमान की संगति—(४) **विषम** ।

(ङ) संगति का अभाव—(५) **असंगति** ।

(च) एक ही कारण से इष्ट और अनिष्ट होना—(६) **व्याघात** ।

(छ) मानसिक अक्षमता या दुर्बलता के कारण प्रतिशोध की भावना—(७) **प्रत्यनीक** ।

१६. जहाँ प्रस्तुत का मानवीकरण हो—**मानवीकरण** ।

१७. जहाँ प्रस्तुत से अनुमान या सम्भावना लक्षित हो—**अनुमान, सम्भावना** ।

ःरण की सार्थकता का विश्लेषण

इस वर्गीकरण मे केवल २९ अलंकार सम्मिलित हो सके, जिनके द्वारा अप्रस्तुतो की सम्भव है । इनमें से कुछ अलंकार नवीन हैं, यथा-प्रतीक, मानवीकरण तथा कुछ

---

†तुलनार्थ—रामदहिन मिश्र : अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना रूपकातिशयोक्ति ही है । काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० १०७ ।

‡तुलनार्थ—वही, समासोक्ति ही संसार में अन्योक्ति है । इसमें अप्रस्तुत सामने लाया जाता है । वह ऐसा परिचित और स्वाभाविक होता है कि उसका वर्णन समाप्त होते न होते प्रस्तुत झलक जाता है । अन्योक्ति के लिए यह आवश्यक है कि अप्रस्तुत योजना हमारे किसी न किसी भाव की भूमि हो और प्रस्तुत में जीवन को स्पर्श करने की सामर्थ्य हो । जीवन की व्याख्या के विरुद्ध अप्रस्तुत रमणीय होने पर भी अन्योक्ति का नहीं हो सकता पृ० १०५

सर्वमान्य अलंकार छूट गये हैं—यथा, उदाहरण, स्वभावोक्ति, अधिक, विशेष, न्यून, स्मरण आदि। हमने उदाहरण को उपमा में ही अन्तर्भुक्त माना है। यद्यपि प्रतीक मान्य अलंकार नहीं है किन्तु अप्रस्तुतों के वर्णन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है अतः प्रतीकों को भाव प्रकाशन का माध्यम या अलंकार मान लिया गया है। इसी प्रकार लोकोक्तियों और मुहावरों को भी अलंकार के रूप में ग्रहण किया गया है।

मानवीकरण को आँग्ल प्रभाव ग्रहीत माना जाता है।[1] परन्तु वास्तव में यह शैली है जिसका स्पष्ट उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है।[2] दीपक, अधिक तथा विशेष को भी पृथक् सत्ता नहीं प्रदान की जा सकती।

अप्रस्तुत विधान में विरोधमूलक अलंकारों को समुचित स्थान प्राप्त है। ऐसे अलंकारों की संख्या ७ है। इसके लिए कारण-कार्य-भाव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण को आधार बनाया गया। बिना कारण के कार्य होना या कारण के होते हुए भी कार्य का न होना, दो विरोधी तथ्यों का एक साथ उल्लेख, प्रस्तुत का कहीं का कहीं उपयुक्त ठहराना आदि में अप्रस्तुत का उतना अधिक प्राकट्य नहीं देखा जाता किन्तु भावों में अलंकार तो रहता ही है। विरोधाभास में विरोध ऊपरी रहता है, व्यंग्य तो अलंकार ही रहता है।

विरोधमूलक अलंकारों के अतिरिक्त शेष जितने भी अलंकार बच जाते हैं उनमें अधिकांश को सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

जहाँ अप्रस्तुत प्रकट रूप में नहीं भी रहता किन्तु अर्थ से ध्वनि प्रकट होती है, उन्हें भी इस वर्गीकरण में स्थान प्राप्त है।

अप्रस्तुत विधान एवं वर्णन प्रकार

शुक्ल जी ने प्रयोजन के आधार पर अलंकारों का विभाजन प्रस्तुत करके अप्रस्तुत विधान की सम्यक् विवेचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। कवि अप्रस्तुतों का चयन करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। वह विश्व भर से वस्तुओं एवं भावों को अप्रस्तुत के रूप में चुन सकता है किन्तु जिन प्रमुख वर्णनों में वह मनोनुकूल अप्रस्तुतों को लाता है वे मुख्यतः तीन हैं—

१—प्रकृति वर्णन; २—सौन्दर्य वर्णन; ३—मनोभाव या उद्वेग वर्णन।

प्रकृति वर्णन में कवि प्रकृति को सजीव बनाकर अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत मानवीकरण को प्रश्रय देता है।

---

१. हिन्दी कविता में अलंकार विधान : डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी, पृ० १३७।

२. रस मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९५।

सौन्दर्य वर्णन में कवि अपनी रुचि वैचित्र्य की झाँकी प्रस्तुत करता है। वह अपने चारों ओर के वातावरण से अप्रस्तुतों का चयन करता है। पशु, पक्षी, नक्षत्र, फूल-फल, नद-नदी, न जाने कितने पदार्थ, जिनसे वह परिचित होता है और जिनसे प्रभावित रहता है, अप्रस्तुत के रूप में चुन-चुन कर लाता है।

मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए नपे-तुले अप्रस्तुतों की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए वह प्रकृति में बिखरे सजीव तथा निर्जीव पदार्थों के आधारभूत गुणों को चुनता है। व्यक्तियों के नामों को भी इसी प्रसंग में लाता है।

अप्रस्तुत विधान और औचित्य

आनन्दवर्धन के अनुसार वही अलंकार योजना औचित्यपूर्ण होगी जो काव्य के मूलभाव के प्रवाह में स्वयं योग देने के लिए उपस्थित होती है एवं जिसके लिए कवि को अलग से यत्न नहीं करना पड़ता।

लॉगिनस के अनुसार अलंकार का प्रयोग स्थान, परिस्थिति, रीति और उद्देश्य के औचित्य से होना चाहिये ताकि यह न जान पड़े कि अलंकार योजना अलग से थोपी गई है।[1]

आचार्य राजशेखर ने विवेक को उचित-अनुचित का आधार मानकर औचित्य की परिभाषा की है—जिसे विवेक माने वही औचित्य है।[2]

क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य रससिद्ध काव्य का जीवन है। जो जिसके सदृश हो वह उचित है, इसी उचित भाव का नाम औचित्य है—

> उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्,
> उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।

देश-काल-पात्र को ध्यान में रखते हुए अप्रस्तुतों का सुष्ठुतम प्रयोग उनके औचित्य का द्योतक है। औचित्य का दूसरा नाम उपयुक्तता है। हम अप्रस्तुतों के साथ औचित्य का प्रयोग उनकी उपयुक्तता के लिए करेंगे।†

अप्रस्तुतों की उपयुक्तता दो बातों पर निर्भर करेगी—

(१) कवि के अनुभव एवं निरीक्षण की व्यापकता।

(२) अप्रस्तुत चुने जाने के क्षेत्र की संकीर्णता या विशालता।

---

१. औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी काव्यशास्त्र पर प्रभाव : डॉ० चन्द्रहंस पाठक, पृ० २१६।

२. उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिः इति यायावरीय—काव्य मीमांसा।

†तुलनार्थ—रामदहिन मिश्र : अप्रस्तुत योजना में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उपमेय और उपमान के व्यापार में कितना औचित्य होगा'''औचित्य काव्य कलेवर का अनुपम अंग है—'काव्य में अप्रस्तुत विधान', पृ० ७६।

अप्रस्तुतों का चयन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष (परोक्ष) जगत से समान रूप से किया जाता है। प्रत्यक्ष जगत कवि के चारों ओर विस्तीर्ण जगत है किन्तु अप्रत्यक्ष जगत तो मनोजगत या भावजगत है, जो उसकी व्यक्तिगत कल्पना से सम्बद्ध है, जिसके फलस्वरूप भाव जगत से ग्रहण किये गये उपमान प्रायः अधिक उपयुक्त होते हैं, किन्तु सदैव श्रेष्ठ अप्रस्तुतों का व्यवहार कवि द्वारा हो, यह सम्भव नहीं है।

औचित्य से ही सम्बन्धित विषय अनौचित्य का है, जिसे 'काव्य दोषों' के रूप मे वर्णित करने की परम्परा है। भरत तथा वामन[1] ने गुणों के विपर्यय का नाम 'दोष' रखा। रस सम्प्रदाय की सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि के बाद दोष का लक्षण ही रसापकर्षक (मुख्यार्थापकर्षक) माना जाने लगा।[2] रीतिकाल में कुलपति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, सोमनाथ जैसे आचार्यों ने रसापकर्षक तथा शब्दार्थ सौन्दर्यापहारी को ही दोष माना है।

अलंकार दोषों का निरूपण वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि सब ने अपने-अपने अनुसार किया है। किन्तु दोष कभी-कभी गुण बन जाते हैं और कभी-कभी गुण दोष का रूप ले लेते हैं। अपन्हुति में सत्य को छिपा कर झूठ का आश्रय लिया जाता है और अतिशयोक्ति में यथार्थ को त्याग कर बनावटी बातें कही जाती हैं। अतः ये दोनों अलंकार दोष पर आधारित हैं। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में दोष भी अलंकारों मे पिरोये जाने पर चमत्कारी सिद्ध होते हैं।

अप्रस्तुत विधान और सौन्दर्य

काव्य में सौन्दर्य की विवेचना भी औचित्य से सम्बद्ध मानी जा सकती है। किसी काव्य को सुन्दर कहने का अर्थ यह नहीं होता कि उसके छन्दादि सुन्दर हैं, बल्कि यह कि कल्पना में भासित उसके अर्थ सुन्दर हैं।[3] भावों का मूर्त रूप ही सौन्दर्य है। अलंकारशास्त्रियों ने सौन्दर्य के लिए 'चारुत्व' का प्रयोग किया है और अलकारों को 'चारुत्व हेतु' बताया है। अप्रस्तुत विधान के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य की इसी मान्यता को ग्रहण किया जा सकता है।

औचित्य से ही सम्बन्धित विषय अप्रस्तुतों का मौलिक अथवा रूढ़ प्रयोग भी है। कवि के लिए परम्परागत अप्रस्तुतों की लीक को त्यागकर सर्वथा नवीन पथ पर चल पाना कठिन होता है, फिर भी वह कुछ न कुछ नूतन अप्रस्तुतों की सर्जना तो करता ही है। ये ही मौलिक अप्रस्तुत हैं जो देश-काल के अनुसार देशी या विदेशी दोनों ही हो सकते हैं।

---

१. गुण विपर्यया दोष (दोषाणां) माधुर्यौदार्यलक्षणाः। १६-९६ : नाट्यशास्त्र भरत।
गुण विपर्ययात्मानो दोषाः—काव्यलंकारसूत्राणि—वामन।

२. साहित्य दर्पण : सप्तम परिच्छेद।

३ सौन्दर्य तत्त्व · सुरेन्द्र दास गुप्त, अनुवादक, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ११, भूमिका।

सामान्यतः रूढ़ या .... अप्रस्तुतों का औचित्य सर्वमान्य होता है किन्तु इनमें से भी कुछ अप्रस्तुत अत्यन्त भद्दे, निरर्थक अथवा अनुपयुक्त हो सकते हैं।

अप्रस्तुत विधान और ध्वनि

ध्वन्यात्मक अप्रस्तुत योजना भी अत्यन्त मार्मिक होती है। यह संलक्ष्य क्रम तथा असंलक्ष्य क्रम दोनों प्रकार की हो सकती है।† ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा-ध्वनि है और अलंकार भी ध्वनिजन्य हैं (किन्तु अलंकार सम्प्रदाय इसे स्वीकार नहीं करता)। ध्वनि कहीं शब्द शक्ति से, कहीं अर्थ शक्ति से और कहीं इन दोनों ही शक्तियों से उठती है। काव्य में अलंकार की प्रतीति भी शब्द और अर्थ द्वारा होती है किन्तु जहाँ बाह्य रूप से अलंकार नहीं पाया जाता वहाँ भी ध्वनि पाई जाती है—अर्थात् प्रस्तुत से अप्रस्तुत की ध्वनि निकलती है। समासोक्ति अलकार में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है और अप्रस्तुत में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की। किन्तु इन स्थितियों के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान में ध्वनि की खोज आवश्यक है। काव्य में 'कुछ और' की जिज्ञासा-शमन के लिए वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ (ध्वनि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन) आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार रसध्वनि की विस्तृत विवेचना भी इसी परिप्रेक्ष्य में आवश्यक प्रतीत होती है। अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत रसध्वनि की विवेचना अमूर्त रूप में स्वीकार करके की गई है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्रस्तुत विधान अलंकारों की योजना मात्र का विश्लेषण न होकर उन समस्त उपकरणों का अध्ययन होगा जो कारण स्वरूप हैं और जिनके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना नहीं की गई है।



† रामदहिन मिश्र ध्वन्यात्मक अप्रस्तुत योजना को केवल संलक्ष्यक्रम मानने के पक्षपाती हैं 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' पृ० ८३-८४

सन्तरेण कृत 'गुरु नानक विजय'

जयभगवान गोयल

'गुरु नानक विजय' २४३८२ छंदों का एक धर्मप्रधान वृहदाकार प्रबन्ध काव्य है जिसका प्रणयन उदासी सम्प्रदाय के प्रमुख कवि संतरेण ने १९वीं शती के उत्तरार्ध मे किया था।

उत्तर भारत का मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन अनेक मतों-सम्प्रदायों एवं पंथों के माध्यम से विकसित हुआ। उदासी सम्प्रदाय भी इसी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का एक अंग है। इस सम्प्रदाय का संगठन अभी भी बहुत मजबूत है। चार धूणी, ६ बख्शीशें एवं अनेक उप-बख्शीशों के रूप में अनेक स्थानों पर इनके बड़े आश्रय अखाड़े हैं। गुरु नानक के ज्येष्ठ पुत्र बाबा श्रीचंद को इस पंथ का प्रवर्तक माना जाता है। इस सम्प्रदाय के वर्तमान प्रमुख आचार्य एवं सन्त श्री गंगेश्वरानंद जी की मान्यता है कि ब्रह्मा जी के पुत्र सनक जी इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य थे। इनके प्रशिष्य श्री सर्वज्ञ मुनि जी के अनुसार श्रीचंद जी गुरु-गद्दी की १०८वी पीढ़ी में आते हैं। संतरेण ने गुरु नानक को इस मत का उद्धारक माना है और 'गुरु नानक विजय' में उन्होंने गुरु नानक का उदासी-वेशधारी, भगवान के अवतार के रूप मे निष्ठापूर्वक वर्णन किया है।

संतरेण का जीवन-वृत्त

संतरेण के जन्म के सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो कुछ मालूम नहीं लेकिन अनुमान है कि उनका जन्म संवत् १७९८ में श्री नगर, कश्मीर में हुआ था। इनके पिता का नाम हरिबल्लभ और माता का नाम सावित्री देवी था। ये गौड़वंशीय ब्राह्मण थे। इन्होंने संस्कृत की आरम्भिक शिक्षा घर पर ही प्राप्त की। बाद में बाबा साहिबदास से शिक्षा लेकर उदासी सम्प्रदाय में प्रवेश किया और उन्हीं से वेदान्त, इतिहास, पुराण, काव्य-शास्त्र एवं काव्य-रचना का ज्ञान प्राप्त किया। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने लाहौर, मालवा, सिंध, अकोला एवं मद्रास आदि स्थानों की यात्राएँ कीं तथा अनेक अखाड़ों और पीठों की स्थापना की। फाल्गुन वदी १२ संवत् १९३२ को मालेर कोटला के निकट भूदन ग्राम (पंजाब) मे इनका देहावसान हुआ जहाँ अभी इनकी समाधि है सतरेण बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान्

एवं निष्ठावान् साधक थे। वे एक समन्वयवादी चिंतक, सच्चे संत, समाज सुधारक एवं धर्म-प्रवर्त्तक थे और उनका व्यक्तित्व विनयशील, निराभिमानी एवं प्रभावशाली था।

'गुरु नानक विजय'

'उदासी बोध' में इन्होंने 'नानक विजय', 'मनप्रबोध', 'वचनसंग्रह' तथा 'नानक बोध' इन चारों रचनाओं का उल्लेख किया है। 'नानक विजय' संतरेण की सबसे बड़ी एवं महत्वपूर्ण रचना है। इसमें २० खण्ड, ३४७ अध्याय तथा कुल २४३८२ छंद हैं। खण्डों के नाम हैं— मंगल खण्ड, ब्रह्म खण्ड, नानक विलास खण्ड, धर्म उद्योग खण्ड, बियाह खण्ड, उदासी खण्ड, प्रताप खण्ड, खडूर खण्ड, मकेश्वर खण्ड, सुमेर खण्ड, रामेश्वर खण्ड, गिआन खण्ड, नानक-मता खण्ड, पलखदीप खण्ड, संगलादीप खण्ड, मुलतान खण्ड, बरन खण्ड, तिलखंजी तेग खण्ड, काश्मीर खण्ड, और करतारपुर खण्ड। ये नाम स्थानों, घटनाओं एवं विषय-वस्तु पर आधारित हैं। इस ग्रंथ में इसके रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। संवत् १९२६ में रचित 'उदासी-बोध' में इसका उल्लेख है, लेकिन भाई संतरेण सिंह के संवत् १८८० में रचित 'नानक प्रकाश' तथा १९०० में रचित 'गुरु प्रताप सूरज' में इसका उल्लेख नहीं है। इससे विदित होता है कि इस ग्रंथ की रचना १९१०/४० के आसपास हुई। यह ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ (गुरुमुखी लिपि में) संतरेण आश्रम भूदान, वालापुर पीठ, अकोला तथा साधु-बेला आश्रम, सक्खर मे उपलब्ध हैं।

कथा-तत्व

'गुरु नानक विजय' में गुरु नानक के जीवन का अत्यंत विस्तृत, विशद् एवं चमत्कारिक वर्णन हुआ है। इनके पिता कालू का विवाह, इनके जन्म, बाल्यावस्था एव किशोरावस्था के कार्यों, विवाह, यात्राओं धर्म-प्रचार एवं लहना को गुरु-गद्दी देकर ज्योति-ज्योति समाने आदि का निष्ठापूर्वक वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना बाल्मीकि ऋषि से भेंट होने पर उनके प्रोत्साहन एवं आकाशवाणी से प्रेरणा पाकर की गई। कवि के अनुसार यह कथा सभी फलों को देने वाली एव अत्यन्त पवित्र है।

मूलरूप में यह एक धार्मिक काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें गुरु नानक के चरित्र को पौराणिक रूप देकर प्रस्तुत किया गया है। मध्ययुग में प्रायः सभी सम्प्रदायों ने अपने मत के प्रचार के लिए कथा-काव्यों का आश्रय लिया है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है और अपने धर्म संस्थापकों की महिमा-मंडित प्रशंसा भी। उनके चरित्र में अतिमानवीय एव चमत्कारपूर्ण तत्वों का समावेश करके उन्हें अलौकिक रूप प्रदान किया गया है। उनके जीवन की छोटी-से-छोटी और साधारण-से-साधारण घटना को भी विचित्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'नानक विजय' में भी मध्ययुगीन धर्म-भावना का प्रसार सर्वत्र देखा जा सकता है। इसमें भी यथार्थता कम और कल्पना का उन्मेष अधिक है तथा इतिहास को पृथक् रूप दिया गया है इसमे पारलौकिक दृश्यों अतिमानवीय कृत्यों एव चमत्कारपूर्ण घटनाओं का बाहुल्य है चरित्र नायक की महानता और दिव्यता प्रदर्शित करने के लिए कथानक में अनेक

अलौकिक एवं विस्मयजनक घटनाओं का समावेश किया गया है और ऐतिहासिक घटनाओं में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन-परिवर्धन कर दिया गया है। वस्तुतः कथानक तो एक माध्यम है, लेखक का उद्देश्य है कथा के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का निरूपण और उदासी मत के उद्धारक (संतरेण के अनुसार) गुरु नानक की महिमा का वर्णन। इस ग्रन्थ में व्याप्त पौराणिक-तत्व को देखते हुए कुछ विद्वानों ने इसे 'नवपुराण' की संज्ञा भी दी है।

धार्मिक प्रवृत्ति का आभास ग्रन्थ के आरम्भ में ही मिल जाता है। प्रारम्भिक १६ अध्यायों में गणेश, राम, कृष्ण नानक तथा उनके पुत्रों, विष्णु के २४ अवतारों, सिक्ख गुरुओं उदासी सम्प्रदाय के चार धूणों के संस्थापकों, सन्तों, ऋषियों, कवियों, देवी-देवताओं एवं विप्रों आदि की वन्दना सम्बन्धी मंगलाचरण हैं। तदनन्तर पौराणिक पद्धति का अनुकरण करते हुए पूरे धार्मिक वातावरण में महाविष्णु द्वारा नानक रूप में अवतार लेने के कारणों के उपाख्यान से कथा का आरम्भ होता है। भगवान के नानक रूप अवतरित होने के तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख किया गया है। (१) जनक की प्रार्थना पर मृत्युलोक के पापियों के उद्धार हेतु (२) कश्यप और अदिति के तप के प्रसन्न होकर पुत्र रूप में उनके यहाँ जन्म लेने के लिये तथा (३) यवनों के गौ, ब्राह्मणों पर किये गये अत्याचारों से आतंकित पृथ्वी के उद्धार के लिये। सुक्खासिंह ने 'गुरु विलास' में गुरु गोबिन्दसिंह के अवतार के संदर्भ में अंतिम कारण का उल्लेख किया है। इस दोनों रचनाओं का मुख्य उद्देश्य दैवी-शक्तियों की आसुरी शक्तियों पर विजय दिखाना है। लेकिन दोनों का स्वरूप भिन्न है। 'गुरु विलास' का नायक धर्म गुरु होते हुए भी युद्धवीर है और आसुरी शक्तियों के विध्वंस के लिए खड्ग धारण करता है, जबकि 'नानक विजय' का नायक केवल धर्म-प्रचार द्वारा ही उन पर विजय प्राप्त करता है। इसलिए 'गुरु विलास' वीररस प्रधान रचना है और 'नानक विजय' शान्तरस प्रधान। कश्यप की तपस्या का उल्लेख भाई संतोख सिंह ने 'नानक प्रकाश' में भी किया है। ऐसा चरित्र नायक को पौराणिक रूप देने के लिये ही किया गया है। 'नानक विजय' में भगवान सब देवताओं तथा योगमाया आदि को भी अवतार लेने का आदेश देते हैं। ब्रह्मा कालू के कुल पुरोहित हरिदयाल के रूप में अवतरित हुए हैं सभी देवता कालू के सेवक बने हुए हैं, सुलक्षणी योगमाया है, नानकी मीरा की और उसके पति जयराम गिरधर के अवतार हैं।

वर-कथाओं की तरह यहाँ शाप-कथाएं भी हैं। नारद भगवान् के शाप के परिणाम स्वरूप ही मिरासी मरदाने के रूप में अवतरित हुए हैं।

गुरु नानक का जन्म भी मिशन वातावरण में ही होता है। वे चतुर्भुज रूप में प्रकट होकर माता को दर्शन देते है और फिर 'सोऽहं' का उच्चारण करके बालक का रूप धारण कर लेते हैं। शैशवावस्था में ही वे ब्राह्मणों को वेदों-उपनिषदों का ज्ञान देने लगते है और जब गोरखनाथ दर्शनार्थ आते हैं तो विराट् रूप में उन्हें दर्शन देते हैं। उनके माता-पिता, सखा-सेवक, राजा-प्रजा, नाथ-सिद्ध आदि सभी उन्हें भगवान का अवतार मानते हैं। वे सभी को अपनी अलौकिक शक्ति से विस्मित एवं प्रभावित करते दिखाये गये हैं।

नानक यहाँ इतिहास-पुरुष नहीं, पौराणिक पुरुष हैं और उनके अतिमानवीय कृत्यों एवं करामतों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। दो वर्ष की अवस्था से ही भारी नामक ठग के उद्धार से उनके चमत्कारिक कृत्यों का आरम्भ हो जाता है। फिर तो वे अन्धों को आँखें देते है, कोढ़ियों को राग मुक्त करते हैं और मृतकों को जीवित करते हैं। उनके कथन मात्र से लोग मृत्यु को प्राप्त करते हैं, स्पर्श मात्र से राक्षस दिव्य रूप धारण कर लेते हैं, दौलत खाँ लोदी का कुत्ता भी उनके हाथ फेरने से कुरान पढ़ने लगता है। किसी की वे जबान बन्द कर देते हैं तो किसी (काजी) को जमीन से चिपका देते हैं। खेत को गायों से चरवा देने पर भी हरा-भरा रहता है, मोदी खाने के संतों को लुटवा दिये जाने पर भी वह भरा-पूरा रहता है। एक स्थान (तलवंडी) से अदृश्य होकर अन्यत्र (कुरुक्षेत्र) में पहुँच जाते हैं, सूक्ष्म शरीर धारण करके पर्वतों को लाँघ जाते हैं। उनका सुलक्षणी को दिया हुआ श्रीफल बालक का रूप धारण करके (श्रीचंद) ५ वर्ष के बालक की तरह खेलने लगता है। लक्ष्मीचंद भी एक लौंग से बन जाता है। वे अनेक रूप धारण कर लेते हैं, पत्थरों को चाँदी के रूप में बदल देते हैं, रोटी निचोड़ कर उसमें से खून अथवा दूध निकाल देते हैं और इब्राहीम लोदी के राज्य के विनाश की भविष्यवाणी कर देते हैं।

वे अपनी अलौकिक शक्ति से स्वर्ग लोक, पाताल, सचुखंड महाविष्णु लोक, बैकुंठ, आदि का भ्रमण करते हैं, गोरखनाथ, वरुण, ध्रुव भक्त आदि से भेंट करते हैं विष्णु से अपनी पूजा करवाते हैं और जल में अन्तर्निहित होकर भगवान के पास पहुँच जाते हैं।

यहाँ माया-नगरियाँ हैं, ज्वाला स्वरूपा नारियाँ हैं, सोने के वृक्ष, सोने की लताएँ है और अमृत के फल हैं। भगवान स्वयं बाला के रूप में, मोदीखाने में नानक की सहायता करने आते हैं।

इस तरह सम्पूर्ण कथानक लौकिकता और यथार्थ के धरातल से ऊपर उठकर अलौकिक एवं रहस्यमय रूप धारण किये हुए है। इसमें स्वाभाविकता के स्थान पर अतिमानवीयता एवं वैचित्र्य अधिक है। सभी पात्रों को नानक के अवतारत्व का बोध निरन्तर रहता है, जो कथानक के स्वाभाविक विकास में अवरोध उत्पन्न करता है। यहाँ पात्रों के पूर्व जन्म की कथाएँ भी हैं, अवतार कथाओं के रूप में भयकार बंदर, हेमपुरी, अंधेरनगरी, अंगददेश, हरिद्वार आदि की कथाएँ भी आई हैं और नारद के मोह-भंग आदि से सम्बद्ध पौराणिक आख्यान भी हैं। ऐतिहासिक घटनाओं पर पौराणिक रंग चढ़ाने का कवि को इस कदर मोह है कि उसे इस बात का ध्यान भी नहीं रहता कि इससे राष्ट्रीय भावना को कितनी क्षति पहुँचती है। उदाहरण के लिये, यहाँ बाबर को अत्याचारी इब्राहीम को दण्डित करने के लिए नानक वाणी की प्रेरणा से ही भारत पर आक्रमण करते दिखाया गया है। इस तरह हम देखते है कि इस ग्रंथ में या तो नानक की करामातों का वर्णन अधिक है या उनकी धर्म-यात्राओं और उपदेशों का। भगवान् से आशीर्वाद पाकर उदासी वेश धारण करके ये धर्म-यात्रा पर निकल पड़ते हैं सुल्तानपुर से उनकी धर्म विजय का होता है पहला उपदेश

मानवीय एकता तथा ससार की निरर्थकता एवं असारता का अपनी बहन नानकी को देते हैं फिर अपनी चार उदासियों में पानीपत दिल्ली लाहौर कुरुक्षेत्र बीकानेर अचल तीर्थ, गुजरात, पुष्कर, जयपुर, उज्जैन, चांगदेश, पंचवटी, पंढरपुर, मानसरोवर, सुमेर पर्वत, अंगददेश लंका, रामेश्वरम्, नानकमता, सूर्यकुंड, काशी, कौरुदेश, संगलदीप, बशहर देश, विश्वेसपुर, देवगंधार, पाकपटन, गिरनारपर्वत, मक्का, काश्मीर, तथा विष्णुलोक, सचखंड, महाविष्णु लोक आदि स्थानों का भ्रमण करते हैं। विभिन्न धर्मों के धार्मिक स्थानों और तीर्थों पर जाते हैं, वहाँ उन धर्मों-मतों के धर्म-गुरुओं, पंडितों, महन्तों, पीरों-फकीरों आदि से धर्म-चर्चा करते हैं, सेठों, साहुकारों, सुलतानों और राजाओं को उपदेश देते हैं, तथा दीनों-दुखियों, रोगियों एवं पापियों का उद्धार करते हैं।

पीर-फकीर, साधु-संत, योगी-जंगम, सिद्ध-महन्त, शेख-ब्राह्मण, शैव-शाक्त, हाजी-काजी, मुल्ला-इमा, जैनी-वैष्णव सभी उनसे चकित, प्रभावित एवं पराजित होकर उनके शिष्य बनते दिखाये गये हैं। वस्तुतः इस ग्रन्थ की समस्त कथावस्तु में धार्मिक तत्व की ही प्रधानता है। बहुत से प्रसंगों में इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वार्ता की सी नीरसता, उपदेशात्मकता, एवं एकता आ गई है। आरम्भिक कथा में कुछ सन्तुलन है लेकिन बाद के कथानक में धर्म-प्रचार एवं सिद्धान्त-निरूपण की अतिशयता के कारण कथानक का सूत्र ढीला पड़ जाता है। उसमें उपदेशों की शुष्कता, पारलौकिक दृश्यों का वैचित्र्य, करामातों का कौतुक अधिक है और जीवन की यथार्थता एवं रसात्मकता अपेक्षाकृत कम। इसमें घटनाओं का बाहुल्य है और वर्णनों में इतिवृत्तात्मकता है। पौराणिक आख्यानों का नियोजन यद्यपि इतनी कुशलता से किया गया है कि वे मूल कथा के अंग लगते हैं, तथापि कथानक में धार्मिक प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि न तो कथा का स्वाभाविक विकास हो पाता है और न ही युग का व्यापक एवं विशद् चित्र उभर कर सामने आता है। युग-दशा की नाम पर उस युग में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों-पन्थों के स्वरूप, विकृत साधना पद्धतियों एवं बाह्याचारों का ही उल्लेख अधिक मिलता है। इससे कुछ वर्ष पूर्व रचित गुरु प्रताप सूरज मे युग और समाज का जैसा वृहद् और यथार्थ चित्र उपलब्ध हैं, उसका यहाँ अभाव है। पात्रों की मनोदशा का वैसा सजीव चित्रण भी यहाँ नहीं हुआ और न ही भावों की वैसी विशद और अनुभूतिपूर्ण अभिव्यंजना हुई है। सभी पात्र नाटक की दिव्यता से को बोध से इतने दबे हुए हैं कि उनकी मानवीय मनोवृत्ति एवं संवेदना पूरी तरह उभर कर सामने नहीं आ पाती।

सन्तरेण ने आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता में विश्वास प्रकट किया है (वि० ख०२१/३१)। आत्मा को उन्होंने सच्चिदानन्द स्वरूप माना है, जो न मरता है, न जन्म लेता है। वह अविनाशी और चेतन रूप है। यह शरीर अनित्य, रोगयुक्त, दुखात्मक, जड़रूप, एव नाशवान है। परमात्मा के सगुण रूप के प्रति भी सन्तरेण ने आस्था व्यक्त की है[१] जोकि

१. सरगुनि मेरो रूप चतुभज जोई रे।
इक करि राकस मारे हमने लोइ रे॥ (म० वि० १५)

भक्ति के वश में होकर तथा लीलार्थ अवतार धारण करता है ।[1] उनके अनुसार इस माया रूप नामकरूपात्मक, जड़ जगत की उत्पत्ति ब्रह्म की 'अहं ब्रह्म' की ध्वनि से हुई है । यह संसार नाशवान् क्षणभंगुर, अनित्य एवं स्वप्नवत मिथ्या है । संसार के सभी सम्बन्ध, धन, सम्पत्ति परिवार आदि मिथ्या और नश्वर हैं । सत्य केवल ब्रह्म है, उससे भिन्न और कुछ भी नही है । सभी उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं ।

आवागमन और कर्मफल में भी सन्तरेण को विश्वास है । उनका कथन है कि आवागमन से मुक्ति ज्ञान द्वारा सम्भव है और ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है । गुरु अज्ञान का विनाशक, भक्ति-मुक्ति को देने वाला और ब्रह्म से मिलाने वाला है ।[2] वही दुष्कर्मों से भी मुक्त करता है । सन्तरेण ने भी अन्य सन्तों की भाँति गुरु को परब्रह्म स्वरूप माना है ।[3] और उनकी निष्ठापूर्वक वन्दना की है । उनके अनुसार गुरु ही पाप, ताप, क्लेश को मिटा कर हृदय में ज्ञान का प्रकाश करता है ।[4] गुरु के बिना न कर्म सार्थक है, न भक्ति मिलती है, न ज्ञान । गुरु के बिना जीव चौरासी योनियों में भटकता है (वि० ख० २२/६) और वह प्रियतम को कभी प्राप्त नहीं कर पाता (गि० वि० १७/११) । सच तो यह है कि गुरु के समान और कोई हितकारी ही नहीं है ।[5]

आध्यात्मिक तत्व

संतरेण पहले संत एवं धर्म-प्रचारक हैं, फिर कवि । उनकी काव्य रचना का मूल उद्देश्य मन को कुवृत्तियों से मुक्त एवं सांसरिक मोह-माया से विमुख करके उसमें उदात्त-भावनाओं का उन्मेष करना और भगवान के भजन में लगाना है । वे उदासी-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य एवं साधक थे और इस ग्रन्थ में भी उन्होंने इसी सम्प्रदाय के अनुरूप ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के स्वरूप एवं सम्बन्ध साधना-पद्धति, तथा साम्प्रदायिक आदर्शों और मान्यताओं, गुरु के महत्व, नाम-महिमा, कर्म-फल, आवागमन, संत महिमा, वेदों एवं पुराणों के महत्व, ज्ञान एवं भक्ति, सत्य, संयम, संतोष आदि का निरूपण विस्तार से किया है ।

---

१. परम निरंजन त्रिगुन जोई । मन बाणी ते परे सु लोई ।
भगति बस सरगुनि सो भयो । अहि उतार तहि लै लयो ३६ ।
रूप रस गुनि परम उदार । लीला खातर लयो उतार । (मं० ख० १४/४०)

२. गुरु बिन भरम न होवे दूरि । ब्रह्म नाम दोनों भरि पूरि । (ब्र० ख० १)

३. गुरु गणेश गुरु सारदा गुरु परब्रह्म स्वरूप । (वचन संग्रह १/१)

४. ना सतितत्त गुरु पद ते अनयो सति के वेद पुराण बखाने ।
पाप सु ताप कलेश मिटाई सु ज्ञान प्रकाश रिदै मह ठाने (म० ख० २/६)

५. गुर को उपमा गुर का सुब ने, गुर के सम दूसर नाहि अने ।
मुहि आन गुरु सम नाहि दिसै । गुर के सम आन बताऊ किसे ।
स० २/११)

श्री गणेश्वरानन्द जी ने उदासी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है -उद ब्रह्म, आसीन स्थित। अर्थात् जो ब्रह्म में स्थित हो अथवा ब्रह्मरूप हो।[1] आरम्भ में अन्य संतमतो की भाँति यह मत भी निर्गुणवादी था, लेकिन धीरे-धीरे इसमें सगुणोपासना का प्रवेश होता गया और अब यह पूर्णतः सनातन धर्म का ही एक अंग-सा बन गया है, जिसमें वेदों, उपनिषदो के ज्ञान की निष्ठापूर्वक चर्चा की जाती है, पुराणों की कथाएँ सुनाई जाती हैं और पंचदेवोपासना (ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, गौरी) का विधान है। गुरु नानक विजय में भी निर्गुण एवं सगुणोपासना के समन्वय का प्रतिपादन हुआ है और नानक को भी विष्णु के अवतार के रूप में राम और कृष्ण से अभिन्न माना गया है।

संतरेण के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निरंजन, अलख, अभेव, अंतरयामी, अविनाशी रूपरेख रहित, वर्णचिह्न विहीन, अनाम भी है और सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान भी (अ० ख० १/६४-७०)।[2] उन्होंने उसे अन्य संतों की भाँति राम, रहीम, परम पुरुष, साहब, ब्रह्म, पारब्रह्म, परमेश्वर आदि कई नामों से अभिहित किया है। संतरेण ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं विविध अवतारों को पारब्रह्म रूपी जल से उत्पन्न और उसी में विलीन हो जाने वाली लहरों अथवा तरंगों के समान कहा है (अ० ख० १४/१८-१९)। संतरेण ने भक्ति के साथ-साथ ज्ञान, शुभ कर्म, विरक्ति एवं अन्य उपासना-पद्धतियों के महत्व का भी निरूपण किया है, लेकिन प्रमुख भक्ति को ही माना है। उनका मत है कि भक्ति के बिना जीव आवागमन से मुक्त नहीं होता और भव-फाँसी नहीं कटती। भक्ति बिना जप, तप, पुण्य, दान, सब व्यर्थ है (अ० ख० १/३४)। भक्ति बिना शांति भी प्राप्त नहीं होती (अ० ख० १/३)। भक्ति से ही ज्ञान, वैराग्य, योग, एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है और ब्रह्म से मिलन होता है (वचन संग्रह ९/१)। उन्होंने निष्काम भक्ति पर अधिक बल दिया है (अ० खं० १/३४) और उसके लिए विषय-वासनाओं का त्याग अनिवार्य माना है (उ० खं० १/२४), क्योंकि वासनायें जीव को बन्धन में बाँधे रहती है (वि० खं० ७/१८)। भगवत्-भक्ति के साथ ही कवि ने संत, ब्राह्मण आदि की भक्ति का भी महत्व दर्शाया है। संत को भी वे ब्रह्म-रूप मानते हैं। संतों के शरीर मे, चरणों में, वचनो मे राम का निवास होता है। (मं० खं० ५/५१)।

---

१. उद सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मसंस्थ चतुर्थाश्रमी। श्रौतमुनि चरतामृत तरङ्ग, पृ० १८-१९।

२. जिम जलु ते बहु उठई लहिरां अउर तरङ्ग।
पुनि जलु मैं ह्वै लीन सभि जलु एक सदा उमंग। १८
ब्रह्मा बिसन महेस उतार सु जेतिओ।
लहिरां अउर तरंग सु जानो तेतिओ।
अतिपति अरु पुनि लीन होइ सो जानिये।
हों जलु असथानी पार ब्रह्म सो मानिये। (अ० खं० १४/१९)

उन्होंने विप्र-पूजा, धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन, भगवत-कथा, उपवास, व्रत, मूर्तिपूजा, श्राद्ध एवं शकुन विचार आदि में भी आस्था प्रकट की है और जीवहिंसा का विरोध किया है वर्ण-व्यवस्था में भी उनकी कुछ निष्ठा थी लेकिन भक्ति के क्षेत्र में वे 'ऊँच नीच अन्तरि नहिं कोई। हरि को भजे सु हरि का होई' (प्र० खं० ५/५८) के सिद्धान्त के समर्थक थे। यहाँ वे राम, कृष्ण, गणेश, देवी-देवताओं की वन्दना भी करते हैं। नानक यज्ञोपवीत भी धारण करते हैं, जन्मोत्सव पर भी विप्र मौजूद हैं और विवाह-मडप में भी विप्र वेदमन्त्रों का पाठ करते हैं। जनवासे में पुराणों की कथा होती है। ऐमनाबाद में स्वयं नानक पुराणों की कथा लोगो को सुनाते हैं। नानक महाविष्णु के और अन्य पात्र नारद, ब्रह्मा, देवताओं आदि के अवतार है। वस्तुतः 'गुरु नानक विजय' में कवि वैष्णव मत की ओर काफी मात्रा में झुकता दिखाई पडता है और कहीं-कही मूर्तिपूजा और उपवासों तक का समर्थन करता पाया जाता है। यहाँ स्वयं भगवान यह भी कहते पाए जाते हैं कि मैं कालू के यहाँ जन्म लूँगा, कालू का वंश वही रघुवंश है जिसमें मैंने रामावतार लिया था (सं० खं० १४/४२-४३), अर्थात् यहाँ कवि नानकावतार और रामावतार की अभिन्नता की घोषणा करता है। ब्राह्मणवाद का इस रचना मे अत्यधिक प्रभाव लक्षित होता है। विप्र-पूजा एवं विप्र-रक्षा का विधान विशेष रूप से किया गया है। वैष्णवों के साथ समन्वय का यह एक सचेष्ट प्रयत्न भी कहा जा सकता है।

लेखक का कथन है कि गुरु नानक ने उदासीवेश धारण करके इस पंथ को अन्य पथों का शिरोमणि बनाया (मं० खं० ६/६)। नानक यहाँ यह कहते भी पाए जाते हैं कि उनका पुत्र श्रीचन्द उदासी पंथ को उजागर करेगा और वे स्वयं गुरुदित्ता (श्रीचन्द के शिष्य) के रूप में अवतरित होंगे। गुरु नानक के अतिरिक्त अन्य नौ सिख-गुरुओं की भी इस ग्रन्थ मे वन्दना की गई है और 'गुरु ग्रन्थ साहब' को पंचमवेद कहा गया है। इस तरह कवि ने सिख मत के साथ भी उदासीपंथ का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। इसी प्रकार सन्तरेण ने नाथमत का भी पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। सुलक्षणी को दिए गए जिस श्रीफल से इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य बाबा श्रीचन्द की उत्पत्ति होती है उसमें गोरखनाथ का अंश प्रविष्ट होते दिखाया गया है, अर्थात् उन्हें गोरख का अंशावतार बताकर कवि ने उदासी पन्थ और नाथमत का समन्वय स्थापित किया है। नानक को भी नाथ-साधना के अनुरूप नौ द्वारों को पार करके दसवें द्वार में प्रविष्ट होकर भगवान के शून्य रूप मे दर्शन करते दिखाया गया है। वस्तुतः मध्ययुगीन धर्म-साधना पर नाथमत का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सूफी प्रेमाख्यानों मे भी प्रायः सभी साधक कथा-नायक अपने इष्ट की प्राप्ति के लिए 'योगी' बनकर निकलते हैं।

सन्तरेण ने उदासी-पंथ के प्रवर आचार्य होते हुए भी वैष्णवों, नाथों एवं सिक्खो से समन्वय का स्तुत्य प्रयत्न किया है। समन्वय की यह प्रवृत्ति भी गुरुमुखी लिपि में रचित समस्त हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। मध्ययुगीन प्रायः सभी सिख–कवियों ने भी सिखमत के वैष्णवों के साथ का महत्वपूर्ण कार्य किया है

मध्ययुगीन निर्गुण भक्त कवियों (सन्तों) की भाँति सन्तरेण ने भी अपनी साधना में 'नाम-स्मरण' को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनका मत है कि यन्त्र, मन्त्र, नाम, पुण्य, यज्ञ, तप आदि का भी महत्व है लेकिन 'नाम' सबसे ऊपर है।[1] उसमें विष्णु से भी सौ गुनी शक्ति है। नाम-स्मरण से भव-बन्धन टूट जाते हैं, यम अधीन हो जाता है, इस लोक में सुख और परलोक में यश मिलता है (मं० खं० १५/१६) और सभी पापों का मैल धुल जाता है।[2] नाम नामी से भिन्न नहीं है, दोनों एक रूप हैं, दोनों महान् हैं, दोनों अविनाशी हैं।[3] नाम करोड़ों सत्संगों के समान है। प्रेम सहित नाम स्मरण से क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है और मूढ़ भी ज्ञानी हो जाता है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गुरु नानक विजय' में धार्मिक भावना, आध्यात्मिक विचारों, चमत्कारपूर्ण आख्यानों आदि की इतनी प्रधानता है कि यदि इन प्रसंगों को अलग कर दिया जाय तो ग्रन्थ का कलेवर बहुत छोटा रह जायगा। फिर भी वस्तु-वर्णन एवं भाव-व्यंजना सम्बन्धी कुछ स्थल इस ग्रन्थ में ऐसे हैं, जिनमें यथेष्ट रसात्मकता और कवि की काव्य-प्रतिभा का प्रकाश है।



---

१. निरगुनि सरगुनि रूप दुइ हमरे आहि उदार।
नाम दुऊ ते अधिक है सो मम नाम उतार। (मं० खं० १५/३७)

२. नाम हमारा पाप मैलु सभि धोइ रे। (मं० खं० १५/२२)

३. नामी नाम भिन्न न होइ। एक रूप ही जानो दोइ।
नाम ब्रह्म दुइ जान अनूप। रूप रेख ते रहित अनूप।
सत्तामात्र ताहि सु जान। नामी नाम सु दोइ महान।
नामी नाम दोइ अविनाशी। जाहि रूप सु होवै नासी। (अ० खं० १/६४-७०)

४. नामु सप्रेम हमारा सिमरे जोइ रे। तिन कलेस गण राकस मारे मोह रे।
नाम प्रताप कलेश सु सहजे भागिआ। हो तिन को करना जतन नाहि कछु लागिआ।
नाम कोटि सतिसंग सु मूढि धारिआ। जिनको ग्यान न ध्यान सु कछु न जानिये।
हो नाम सु मूढि सुधारे करे ग्यानिये। (मं. खं. १५/४१)

आधुनिकता : स्वरूप निर्धारण

●

रमाशंकर तिवारी

आधुनिकता का स्पष्ट सम्बन्ध 'आधुनिक' से है। आधुनिक अपने मूलरूप में एक काल-सापेक्ष बोध ही है। जो कुछ अब या अभी घटित हो रहा है, वह 'आधुनिक' है। राजनीति, समाज-संगठन, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि के क्षेत्र में अभी जो क्रियाएँ अथवा प्रक्रियाएँ चल रही हैं, वे सभी आधुनिक कही जा सकती हैं। आचार-व्यवहार तथा वेष-रचना के संदर्भों मे घटने वाली क्रियाएँ प्राय: आकर्षक होती हैं, क्योंकि पुरानेपन से उनमें जो अनोखापन होता है, वह अत्यन्त स्थूल होकर, हमारी इन्द्रियों को तत्काल आकर्षित करता है। इसलिए इन क्रियाओं को 'आधुनिक' की संज्ञा दी जा सकती है। इस संकीर्ण अर्थ में यह आधुनिकता देश-सापेक्ष हो सकती है। उत्पादन तथा विनिमय, यहाँ तक कि युद्ध सम्बन्धी व्यापारों में भी विज्ञान तथा टेक्नालोजी की नवीन उपलब्धियों का उपयोग 'आधुनिकता' का स्वरूप संघटक तत्व बन गया है।

लेकिन कला एवं साहित्य में ऐसी आधुनिकता केवल कच्चे माल का प्रयोजन सिद्ध करती है। कला अथवा साहित्य तत्वत: परिवेश के प्रति मनुष्य की अन्तस्संज्ञा की प्रतिक्रिया होती है। विलाप करती हुई विधवा के करुण नाद से शोक-विह्वल हो जाना 'प्रतिक्रिया' है, किन्तु उसकी विपन्न स्थिति की निवृत्ति के लिए कोई निश्चित कदम उठाना 'अनुक्रिया' है। क्रान्तिदर्शी कला साहित्य में उसके स्रष्टा की प्रतिक्रिया ही नहीं, अनुक्रिया भी होती है। अर्थात् हम कहना यह चाहते हैं कि बाह्य आधुनिकता के प्रति विचारशील व्यक्ति जैसी अनुक्रिया वा आचरण करता है, वही उस तात्विक आधुनिकता को जन्म देता है जो कला तथा साहित्य में प्रतिफलित होती है।

यहीं इस प्रश्न का समाधान मिल जाता है कि क्या ऐतिहासिक सन्दर्भ में आधुनिकता का अध्ययन किया जा सकता है। मनुष्य की विकास यात्रा अनन्त काल से आरम्भ हुई है और अनेक अवरोधों के बावजूद वह आगे बढ़ता गया है। तब इस लम्बी अवधि मे निश्चय ही विविध सोपान और सरणियाँ रही हैं जिनसे इस विकास यात्रा का इतिहास निर्मित हुआ। इस सरणी अथवा सोपान में वर्तमान परिस्थितियों से मनुष्य जूझता रहा है कभी राग माध्यम से कभी तर्क एव बुद्धि विवेक के माध्यम से अर्थात इन्हीं जैसे माध्यमो से वह वर्तमान

के संदर्भ में प्रतिक्रिया-अनुक्रिया करता रहा है। इसलिए ऐतिहासिक संदर्भ में आधुनिक का अध्ययन अपेक्षणीय बन जाता है। जैसे सभ्यता-संस्कृति का वर्तमान स्वरूप अनेक युगों की उपलब्धियों का समन्वित परिणाम है, वैसे ही वर्तमान में समझी जाने वाली आधुनिकता भी विविध काल-खण्डों की आधुनिकता का महान् योगफल है। यहाँ स्थूल आधुनिकता की ही नहीं, तात्विक आधुनिकता की भी बात की जा रही है।

इसी संदर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रागात्मकता का निषेध या प्रतिकार आधुनिकता का अनिवार्य तत्व नहीं है। जो रागात्मकता का निषेध करते हैं और उदासीनता की भावना का पोषण करते है, वे आधुनिकता को नितान्त व्यक्तिगत चश्मे से देखने की भूल तो करते ही हैं, साथ ही आधुनिकता का मर्म भी भूल जाते हैं। मनुष्य चाहे परिस्थितियों की चक्की में टूट जाय, चाहे अदम्य युयुत्सा का परिचय देते हुए उन पर विजय प्राप्त कर ले, या अन्य कोई आचरण करे, वह तब तक 'स्वानुशासित आत्म निर्णय' नहीं कर सकता जब तक रागात्मकता के संस्पर्श से समंजित नहीं होता। वर्तमान के प्रति विधेयात्मक अनुक्रिया (Positive response) ही स्वानुशासित आत्मनिर्णय का पर्याय बनती है।

वस्तुतः आधुनिकता को इतिहास के संदर्भ से विच्छिन्न करके देखने की भूल प्रतिज्ञा से ही रागात्मकता के सम्बन्ध में ऐसी प्रतिकूल धारणा बना ली गई है। मनुष्य की विकास-यात्रा में रोमांटिक भावुकता और बुद्धि-प्रेरित निर्णयात्मकता, दोनों का अवदान रहा है। परिणाम में अन्तर रहा हो, यह दूसरी बात है। आधुनिकता को काल मुक्त धारणा बताना, उसे आत्यंतिक या 'एब्सोल्यूट' मान लेना है। वैसी हालत में सत्यं, शिवं, सुन्दरं के समान ही वह भी एक अपर आत्यंतिक सत्ता बन जाती है, जो स्पष्ट ही अनुचित है। इतिहास की काल-दृष्टि के अनुसार जो भी आज है, वह आधुनिक ही होगा—ऐसा समझना प्रमाद है। इतिहास, मनुष्य के विकास का इतिहास, आधुनिकता की ऐसी व्याख्या नहीं करता। 'इतिहास-मुक्त' होने की बात निरर्थक है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अथवा महापुरुष अपने समय तथा इतिहास से दामन नहीं बचा सकता। मौलिक महत्व है उसके व्यक्तित्व का, जो परिस्थितियों के प्रति वैसी विधेयात्मक अनुक्रिया करता है, जो मानव-प्रगति के महायान को काल के अनन्त वक्ष-स्थल पर आगे बढ़ाने में सहयोगी सिद्ध होती है। ऐसी अनुक्रिया में 'समर्थन में डूबने' या 'विद्रोह में टूटने' का सवाल ही नहीं पैदा होता। काल की सापेक्षता में देखने से आधुनिक होने की कल्पना 'नियतिवादी' बन जाती है,[1] यह कथन भी अनर्गल है, क्योंकि नियतिवाद में निष्क्रिय स्वीकृति एवं संन्यास (resignation) का भाव होता है जबकि विधेयात्मक अनुक्रिया वाला आचरण, प्रतिक्रिया-मात्र नहीं, गति मूलक होता है, जिसमें परिवेश को स्वायत्त करने की भीतरी ललक रहती है।

अब यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक गुणात्मक बोध होते हुए, नैरंतर्यपूर्ण प्रक्रिया है। इस अनवरत प्रक्रिया के ऊपरी स्तर बदलते रहते हैं, बदलते रह सकते हैं, लेकिन

१. श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'ज्ञानोदय' अगस्त, १९६७, में प्रकाशित लेख।

उसका अन्तर्वर्ती धर्म नहीं बदलता। वह धर्म है मनुष्य की प्रगति में सहायक सिद्ध होना। इस दृष्टि से इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता के स्वरूप का अध्ययन करना उपयोगी होगा, क्योंकि तभी उसके पूर्ण स्वरूप का संयोजन अथवा आकलन संभव हो सकेगा।

मानव-इतिहास को सामान्यतः प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक तीन-काल खण्डों मे विभाजित किया गया है। इस विभाजक रेखा के बारे में मतभेद हो सकता है, पर उसके पीछे क्रियाशील सिद्धान्त यह रहा है कि मानव-प्रगति की कहानी के विभिन्न सोपानों तथा मोड़ों को उभार में लाया जा सके ताकि हम वर्तमान चरण को अतीत के संदर्भ में मूल्यांकित कर सकें और अनागत का अनुमान और निर्माण भी कर सकें।

प्राचीन इतिहास की व्याप्ति पश्चिमी रोमन-साम्राज्य के पतन (४७६ ई०) तक मानी गई है। यह वह काल रहा है जिसमें यूनानी प्रतिभा का सूर्य चमक उठा था। प्लैटो, पाइरो, सुकरात, अरस्तू जैसे मनीषियों ने लोगों को सोचना, तर्क करना तथा बहस करना सिखाया। यूक्लिड, पाइथागोरस तथा आर्कीमिडीज ने पृथ्वी की पैमायश की और पाश्चात्य गणितशास्त्र तथा यंत्रशास्त्र की स्थापना की। यूनानी कलाकारों और मूर्तिकारों ने यूरोपीय कला-सिद्धान्तों का निरूपण किया। यूनानी नाट्यकारों ने नाट्य-रचना के ऐसे मानदंड प्रस्तुत किए जो परवर्ती कालों में प्रायः स्वीकृत होकर पाश्चात्य नाट्य-दर्शन का रूपायन कर सके। यूनानी वास्तु-शिल्पियों ने सौन्दर्य तथा उपयोगिता का सम्मिलन किया। ग्रीक भाषा आधुनिक वैज्ञानिक भाषा का मेरुदण्ड सिद्ध हुई है और प्रारम्भिक यूनानियों की पुराण कथाओं ने विश्व-साहित्य को उसकी कुछ शक्तिशाली प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। ऐसा लगता है कि यूनानी प्रतिभा के प्रकाश के पूर्व मानव-सभ्यता का कोई अस्तित्व ही नहीं था अथवा एकदम समाप्त हो गया था। और यूनानी चिन्तकों तथा पंडितों ने नये ढंग से जीवन के प्रतिमानों का प्रतिस्थापन किया। ये प्रतिमान पुनः इतने शक्तिशाली सिद्ध हुए कि यूनानी प्रभुत्व के अवसान के बाद भी वे रोमन नरेशों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए तथा परवर्ती युगों में वे सभ्यता-संस्कृति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न कर सके। यूनानी सभ्यता-संस्कृति तथा उनके संवाहक कला एवं साहित्य निरन्तर गतिशील रहे, क्योंकि उनमें नये चिन्तन एवं नये निरूपण के स्पन्दन सुनाई पड़ते हैं। नगर-राज्यों के निरन्तर चलने वाले पारस्परिक संघर्ष तथा ट्राय जैसे अन्य विदेशी राज्यों की शत्रुता के कारण, एथेन्स के मनस्वी प्रतिभा-पुत्रों को, सामयिक परिस्थिति के संदर्भ में जीवन एवं संस्कृति के प्रतिमानों की उद्भावना तथा प्रतिपादन करना पड़ा। इस अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण, यूनानी प्रतिभा अपने युग में मूलतः 'आधुनिक' थी, क्योंकि समय के प्रवाह में वशीभूत एवं स्थितिबद्ध होने से इनकार कर चुकी थी। वर्तमान परिवेश के प्रति सजग, सशक्त अनुक्रिया ही आधुनिक होने की पहली तथा अंतिम शर्त है और इसी कारण, आधुनिकता गत्यावरोध अथवा प्रवाहबद्धता की 'ऐण्टी-थीसिस' है।

यूनानी प्रभुत्व को आक्रान्त करने के बाद रोमन साम्राज्य भी कुछ सीमित अर्थों में गतिशीलता बनाये रहा। समाज एव राज्य के सम्यक के हेतु कानूनी का

निर्माण सभ्य संसार को रोम की महती देन माना जाता है। प्रसिद्ध 'रोमन शान्ति' (Pax Romana) के युग में कला एवं साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई और ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से तथा कौन्स्टैण्टाइन महान् जैसे रोमन सम्राटों के उसके स्वीकरण से मानव-मंगल का इतिहास भास्वर हो उठा।

जिस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना हमारा उद्देश्य है, वह यह है कि प्राचीन युग मे मानव प्रतिभा का प्रवाह दो तटों के बीच सतत प्रवाहशील रहा। पहला था, उभरती एवं बदलती परिस्थितियों के अनुरूप जीवन-पद्धति का सहयोजन, और दूसरा था, ज्ञान-विज्ञान एवं कला-साहित्य के माध्यम से कतिपय निश्चित प्रतिमानों की उद्भावना, जिनके पालन से जीवन के अन्त वाही पटलों का परिष्कार सम्पन्न हो सके। चिन्तन एवं सर्जन की यह गतिशीलता निश्चित ही आधुनिक थी, क्योंकि उसका अविच्छेद सम्बन्ध, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से 'अधुना' या 'अब' से था।

आधुनिकता प्रगति की पोषक होती है और इसी कारण हमारी वर्तमान परिस्थिति अथवा परिवेश में जो तथ्य इस प्रगतियान को रोकते हैं, अथवा वर्तमान परिवेश के प्रति हमारी बुद्धि किंवा संवेदना जो प्रगति-विरोधी अनुक्रियाएँ करती हैं, वे आधुनिक के मर्म पर आघात करती मानी जायेंगी।

मध्ययुग के विस्तृत काल में जो संस्थाएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं, वे मुख्यतः दो हैं, प्रथम, सामन्तीय व्यवस्था और द्वितीय, ईसाई चर्च एवं धर्म का प्रभावशाली सगठन। इनमें पहली तो स्वार्थपूर्ण थी, यद्यपि संघर्षों तथा युद्धों के उस युग में सैनिक सज्जा की पूर्ति का वह एक सफल विधान थी। आखिर सरदारों एवं सामन्तों ने इस प्रणाली के प्रश्रयन से तत्कालीन जीवन को बर्बर जातियों के आक्रमण से बचाने में सहयोग तो दिया ही, वह भले ही वह स्वार्थ-उन्मुख रहा हो। दूसरी महत्वपूर्ण संस्था चर्च ने रोमन सभ्यता-संस्कृति के श्रेष्ठ प्रतिमानों की रक्षा का श्लाघनीय उद्योग किया और गिरजाघरों के निर्माण तथा अपने विशिष्ट दर्शन के प्रणयन से तत्कालीन जीवन-दृष्टि को परिष्कृत करने का भी सफल प्रयास किया। मध्ययुग के भव्य गिरजाघर बर्बरता के विप्लव के भयानक परिप्रेक्ष में आस्था एवं विश्वास का जो दुन्दुभि-घोष कर रहे हैं, उसे जीवन मान कर पतन से बचाने की दिशा में चिरस्मरणीय अवदान समझना चाहिए।

प्रश्न यह उठता है कि मध्ययुग को गतिशील माना जाय या नहीं। यूनानी प्रभुत्व के उत्तर काल से ही लोकतन्त्र गणतन्त्र की दुर्बलताएँ सतह पर उभरने लगी थीं और राजतंत्र की स्थापना को परिस्थितियाँ निमन्त्रण देने लगी थीं—शायद सभ्यता के उज्जीवन तथा विकास के लिए राजतन्त्र आवश्यक बन गया था। ईसाई धर्म का उदय भी इसी प्रयोजन की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुआ। अतएव राजतन्त्र एवं रोमन चर्च में सहयोग बिल्कुल स्वाभाविक रीति से सम्पन्न हुआ। राजाओं में शक्ति-रक्षण के लोभ से स्वार्थ-बुद्धि भले आ गई, चर्च इस दोष से बहुत काल तक मुक्त रहा और पारलौकिक आस्था का प्रदीप प्रज्वलित कर, जीवन

के परिष्कार में सहयोग देता रहा। अतएव मध्ययुग की दोनों प्रमुख संस्थाएँ, राजतंत्र तथा रोमन चर्च, अपने पर्यावरण के प्रति बहुत जागरूक थीं। सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नयन मे अवश्य उन्होंने किन्हीं ऐसे अभिनव मानों की उद्भावना नहीं की जो प्राचीन काल की स्पर्धा में विश्वासपूर्वक उपस्थित किये जा सकें। लेकिन तब, प्राक्तन प्रतिमानों के प्रति एक विधेयात्मक प्रत्युत्तर तो दिया ही, शुतुर्मुर्ग के समान यथार्थ से आँखें बन्द कर मुँह छिपाने की चेष्टा तो नहीं की। इस दृष्टि से विचार करने पर मध्ययुग को गतिशीलता के तत्व से बिल्कुल वंचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें भी गति थी, प्राणों का स्फुरण था; आगे नहीं बढ़ सका, यह भिन्न बात है। राजतन्त्र तथा रोमन चर्च में यदि सहयोग नहीं हुआ होता, पूर्वस्थापित सभ्यता मानों के अभिरक्षण का प्रयास नहीं किया गया होता, तो शायद पश्चिमी सभ्यता का पेंडुलम शताब्दियों पीछे ढकेल दिया गया होता। इस प्रकार मध्ययुग भी सामयिक परिस्थितियों के प्रति सचेतन था, 'अधुना' के प्रति अनुक्रियात्मक (Responsive) था। अर्थात्, 'आधुनिकता' का संस्पर्श उसे भी अनुप्राणित कर रहा था।

आधुनिकता का विलोप तभी होता है जब युग-चेतना पंगु एवं सर्वथा निष्क्रिय बन कर, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रवाह को बर्बरता की सिकता में सूखने के लिए छोड़ देती है।

साहित्य में यही विधेयात्मक अनुक्रिया की वैयक्तिक वा सामाजिक स्थिति की अनुरूपता में प्रतिफलित होते हैं। जब साहित्यकार, दुर्बल भाव से या जानबूझ कर किन्हीं स्वार्थों के कारण, सभ्यता-संस्कृति के रिक्थ को विनष्ट करने वाले परिस्थिति-प्रवाह को स्वीकार कर लेता है, तब वह आधुनिक नहीं रह जाता।

ऊपर देखा गया है कि मध्य-युग परिस्थितियों के प्रति सतर्क-सचेतन रह कर, सभ्यता-संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्नशील था और इस ढङ्ग में वह भी आधुनिकता के तत्व से समंजित था। किन्तु, राजतन्त्र तथा चर्च का गठबन्धन कालान्तर में स्थिर स्वार्थों की सृष्टि कर गया और मानव-संस्कृति स्वाभाविक प्रगति के कोई नये चरण नहीं रख सकी। राजतन्त्र ने जनसमुदाय के राजनीतिक एवं आर्थिक अभिलाषों का दमन किया और चर्च ने कला-साहित्य को ऐसे कठोर धार्मिक प्रतिबन्धों की कारा में बन्द कर दिया कि श्रेष्ठ कोटि का स्वच्छन्द सर्जन सम्भव नहीं हो सका। यह सही है कि कि धर्म अथवा कानुन का कठोर-से कठोर प्रतिबन्ध भी मानव-हृदय की सहज अभिव्यक्तियों को प्रतिरुद्ध नहीं कर सकता, तथापि मध्ययुगीन शास्त्रीय चिन्तन रोमन चर्च का धार्मिक-दार्शनिक चिन्तन था, जिसकी छाया में कला-साहित्य को स्वाभाविक विकास का अवसर नहीं मिल सका। अतएव सामन्तीय प्रथा तथा रोमन चर्च, दोनों के समन्वित प्रभाव के कारण, मध्ययुगीन जीवन जड़ीभूत एवं निष्प्राण-नीरस बन गया। ऐसी ही पीठिका में यूरोप में नवजागरण (Renaissance) का अभ्युदय हुआ, जिससे विश्व-इतिहास मे 'आधुनिक काल' (Modern Age) का प्रारम्भ माना गया है।

विद्यालयों से ख्यातिलब्ध विद्वान् इटली के विश्वविद्यालयों में पहुँचे और 'नई विद्या' (New Learning) का सानुराग अध्ययन किया जिससे प्राप्त प्रेरणाओं तथा आदर्शों से अनुप्राणित होकर, इन देशों के अनेकानेक कलाकारों तथा साहित्यकारों द्वारा नवीन रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। डॉ० काम्पटन रिकेट ने इस नई चेतना को यों स्पष्ट किया है—"इटली तथा जर्मनी में नये जीवन की स्फूर्ति, नई अभिलाषाओं का उद्दीपन हुआ। इनमें से प्रत्येक देश का क्षितिज नई आशाओं से चमक उठा, जो इस देश के राष्ट्रीय व्यक्तित्व की अनुरूपता में अभिव्यक्त हुई। इटली में नवजागरण इन्द्रियों के माध्यम के झनझना उठा जबकि जर्मनी में वह बुद्धि के माध्यम से मुखर हुआ। इस प्रकार प्रारम्भ से ही जर्मनी में नई चेतना ने धार्मिक स्वरूप ग्रहण किया और झटिति धर्म-सुधार (Reformation) की लहर में मिल गई। इटली में पुराना कैथलिक चर्च प्राचीन ग्रीस तथा रोम के नाना देवी-देवताओं में आस्था रखने वाले धर्म की भावना से अनुरंजित हो गया। मध्ययुग के कठोर संतवाद की प्रतिक्रिया में पैगन (pagan) प्रभावों की आवश्यता थी—यद्यपि जीवन की प्यासों पर कठोर नियंत्रण रखने वाले सन्तवाद से उर्वर, उर्मिल जीवन में प्रवेश पाने वाला यह संक्रमण इटली में नैतिक विपदाओं से विमुक्त नहीं बन सका। नवजागरण के बाद एक पोप की समाधि पर एक नग्न, निरावरण स्त्री की कांस्य प्रतिमा तक स्थापित कर दी गई जबकि मध्यकालीन कलाकार ने एक गिरजाघर के मुख्य द्वार पर एक ऐसा चित्र उत्कीर्ण किया था जिसमें मरे लोग अपनी समाधियों से उठते तथा जल्दी में कपड़े पहनते दिखाये गये थे जिससे वे आखिरी फैसले (Last gudgement) के अवसर पर सुपरिधानित वेश में स्थापित हो सकें। जो कुछ सुन्दर था, वह नवजागरण की नजरों में दैवी या ईश्वरीय था। इस कारण मनुष्य का शरीर, जो इतने दीर्घ काल तक घृणास्पद समझा जाता रहा था, अब अपने महत्व को प्राप्त कर गया और गौरवान्वित बन गया।"

प्राचीन ग्रीक तथा रोमन संस्कृति की पुनरुपलब्धि तथा विश्व के भूगोल की प्रकृति एवं सीमाओं के अन्वेषण से जीवन तथा विचारणा की उन बहुतेरी विशिष्ट पद्धतियों का आविर्भाव हुआ जो हमारे युग को पहले के युगों से भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं।

युग की परिस्थितियों के प्रति विधेयात्मक अनुक्रिया को हमने आधुनिकता का अवच्छेदक गुण बताया है। मध्ययुग में ऐतिहासिक कारणों से स्थिर-स्वार्थों की सृष्टि हो गई थी तथा विकास का क्रम अवरुद्ध हो गया था और यथास्थिति के पोषण की सायास चेष्टा होने लगी थी। इसका परिणाम जीवन तथा समाज-संगठन की सरणियों में गतिरोध-रूप में प्रकट हुआ। अतएव इस गतिरोध के विरोध में जो व्यापक प्रतिक्रिया हुई, वह अनेकमुखी थी जैसा अभी ऊपर दिखाया गया है। ज्ञान की प्यास मन की प्यास, इन्द्रियों की प्यास, चिंतन की प्यास, किंबहुना, जीवन को प्रत्येक बिन्दु से भोगने की प्यास अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत आधुनिक काल की विशेषताएँ बन गईं। जैसा कहा गया है, नवजीवन तथा जिजीविषा के उस व्यापक विस्फोट में प्राचीन ग्रीस तथा रोम की कला एवं साहित्य की नई जानकारी का महत्व

पूर्ण अवदान रहा। अर्थात् वर्तमान के सत्कार परिष्कार में रचनाशील अतीत की उपलब्धियाँ भी सहयोग देती हैं, इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा।

आधुनिक युग की अन्य जिन विशेषताओं ने मानव के विकास में योगदान दिया है, तथा 'आधुनिकता' को नये महत्व के आयाम दिये हैं, वे तीन हैं—औद्योगीकरण, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ तथा लोकतंत्रीय व्यवस्था। इनमें से पहली के साथ व्यावसायिक क्रान्ति (Industrial Revolution) तथा तीसरे के साथ 'फ्रांसीसी राज्यक्रांति' के नाम जुड़े हुए है। वास्तव में ढंग से सोचने-समझने तथा यथास्थिति को तोड़ने की जो प्रेरणा नवजागरण के द्वारा स्वच्छंद विचरण के लिये मुक्त की गई थी, वही इन दो महनीय क्रान्तियों की उत्स-भूमि मानी जायेगी। भौतिकी, जैविकी तथा रसायनशास्त्र के नवीन तथ्यों का अनुसंधान इस प्रेरणा का प्रतिफल था, और उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरानी उत्पादन-प्रणालियाँ पहले प्रश्नास्पद बनीं और तब नई आविष्कृत प्रणालियों से उनका विलोप हुआ। कृषि, वस्त्रोत्पादन, रेलवे, जहाजरानी आदि अनेक क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस प्रकार उत्पादन के तरीकों, परिणाम तथा श्रेष्ठता ने व्यावसायिक क्रान्ति उत्पन्न की, जिसका व्याप्तिकाल अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियाँ मानी गयी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के परवर्ती चरणो मे अनुसंधान तथा आविष्कार की गति और भी तीव्र हुई और सत्रहवीं शती के घरेलू उत्पादन को छोड़कर आगे बढ़ने वाली जो संक्रान्ति प्रारम्भ हुई थी, वह उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरणो तक पूरी हो गई—यह भिन्न बात है कि उत्पादन के क्षेत्र में नई टेकनीकें निरन्तर उद्भावित की जा रही हैं। यहीं यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि व्यावसायिक क्रान्ति ने उत्पादन एवं उपभोग को ही प्रभावित नहीं किया, अपितु इससे बड़े गहरे सामाजिक परिवर्तनों का सूत्र-पात्र हुआ, जिनके प्रभाव से हमारा वर्तमान जीवन भी उत्पन्न है।

यों तो वैज्ञानिक चिन्तन एवं गवेषणा का प्रारम्भ ग्रीक काल से ही हो गया था, नवजागरण काल में इसका यथेष्ट विकास हुआ, तथापि अठारहवीं-उन्नीसवीं में वे अनेक गवेषणाएँ सामने आईं जिन्होंने हमारी परम्परागत मान्यताओं को झकझोर दिया। रावर्टचैम्बर्स द्वारा रचित 'सृष्टि की झाँकियाँ', चार्ल्स डार्विन की लिखी 'प्राणियों का उद्भव' तथा 'मानव का अवतरण', टिण्डल तथा हक्सले जैसे विचारकों के नास्तिकवादी लेख, स्पेन्सर की लिखी 'जैविकी के सिद्धान्त' एवं 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त'—इन अनेक रचनाओं से सृष्टि तथा जीवन-विषयक परम्परानुमोदित धाराओं पर प्रहार हुआ और बुद्धिवादी चिन्तन के प्रवाह को नई गति मिली। दर्शन तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्रों आगस्ट काम्टी, स्टुअर्टमिल अलैकजैण्डर बर्न, हेनरी सिजविक, रिचार्ड कांग्रीव, हैरियट मार्टिन्यू, जार्ज इलियट, फ्रेड्रिक हैरिसन इत्यादि की रचनाओं ने 'उपयोगितावाद' तथा 'विधेयवाद' (Positivism) के सिद्धान्तो का प्रणयन-निरूपण किया, जिन्होंने ज्ञान को विवेकसम्मत बनाया। डार्विन के विकासवाद का प्रभाव नीतिशास्त्र मनोविज्ञान , अर्थशास्त्र इत्यादि समस्त

चिन्तन-सरणियों पर पड़ा। 'विधेयवाद' आज के मार्क्सवादी समाजवाद के विकास में कारण-भूत रहा है।

जिन परिस्थितियों ने ऐतिहासिक द्वन्द्ववादी दर्शन को जन्म दिया, लगभग उन्हीं परिस्थितियों से नास्तिक दर्शन 'अस्तित्ववाद' का भी विकास हुआ है। यों तो शोपेनहाबर तथा नीत्शे के निराशावादी दर्शन से विश्व परिचित था, तब भी सार्त्र ने मनुष्य के अस्तित्व को केन्द्रीय तथ्य मानकर जो अस्तित्ववादी दर्शन उपस्थित किया, उससे मनुष्य (व्यक्ति) की निराशा एवं निस्सहायता को असंतुलित महत्व मिला। ईश्वर या किसी परोक्ष या वाह्य सत्ता मे विश्वास नहीं रखने के कारण अस्तित्ववाद मानता है कि मनुष्य अपना निर्माण स्वतः करता है तथा प्रत्येक मनुष्य अपने लिए स्वयं उत्तरदायी है। इस कारण, मनुष्य अन्तर्वेदना की ज्वाला से झुलस रहा है। ईश्वर नहीं है, अतः उसकी सत्ता के अभाव में जो परिणाम हो सकते हैं, उन्हें मनुष्य को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार, वह संसार मे असहाय है, अकेला है। उसका दुर्भाग्य है कि वह 'स्वतन्त्र' है, अनियन्त्रित है—दुर्भाग्य इस कारण कि वह स्वयं तो संसार में आया नहीं, किन्तु यहाँ आने के बाद अपने निर्माण का तथा उसके द्वारा सम्पूर्ण मानव-समुदाय के निर्माण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसी के ऊपर आ पड़ा है। अस्तित्ववाद मनुष्य की नेकी, अच्छाई व सच्चाई व उसकी लोक-मंगल की कामना पर भी विश्वास नहीं करता, क्योंकि वह मानता है कि मनुष्य अपने निर्णयों में सर्वथा स्वतन्त्र है तथा किसी आधारभूत मानवी प्रकृति की वर्तमानता नहीं है जिससे वह लोक-कल्याण में निसर्गतः प्रवृत्त हो। उसके मरणोपरान्त उसके मित्र या सहयोगी उसके उद्देश्य की सिद्धि के लिए कार्य करते रहेंगे—इसकी कोई गारण्टी नहीं है, क्योंकि वे भी स्वतन्त्र प्रमाता हैं और कल सर्वथा नवीन निर्णय कर सकते हैं। इस प्रकार, अस्तित्ववादी मनुष्य निरन्तर भय, अन्तर्दाह, नैराश्य, वेदना एवं निस्सहायता की आग में जला करता है और आर्थिक तथा राजनीतिक, किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता से बचे रहने का प्रयास करता है। कामू, काफ़्का इत्यादि चिन्तक मनुष्य की निराशा, उसके प्रयत्नों की व्यर्थता एवं कदर्थनीयता का ही स्वर खनखनाते हैं।

अस्तित्ववादी दर्शन भी युग-परिस्थितियों के संदर्भ में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया है और इस कारण 'आधुनिक' भी है। शायद अद्यतन साहित्य में ऐसी जीवन-दृष्टि सर्वाधिक मुखर है। किन्तु जैसा पहले कहा है, आधुनिक का मर्म वह अनुक्रियात्मक चेतना है, जो विकासोन्मुखी है और प्रगति के नये चरण खोजने की प्रतिबद्धता स्वीकार करती है। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद या अन्य कोई प्रतिक्रियामूलक दार्शनिक विचारधारा, जो निराशा एवं अनास्था का प्रचार करती है, आधुनिकता के प्रकृति तत्व से रञ्जित नहीं मानी जा सकती। स्पेंगलर तथा अर्नाल्ड टॉयनबी जैसे विचारक मनुष्य के इस सांस्कृतिक पतन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर चुके हैं। 'सभ्यता' के विकास-क्रम में 'संस्कृति' की क्रमिक मृत्यु का संकट रेखांकित करते हुए ने कहा है कि धर्म तथा की भावना मनुष्य से छीनी नहीं जा सकती,

विज्ञान एक दिन उस बिन्दु तक पहुँच जायगा जहाँ अधिभौतिकता का आकर्षण समाप्त हो जायगा और धर्म का दूसरा दौर बुद्धिवाद की निस्सहायता की अनुभूति से उत्पन्न होगा; तब धर्म प्रगति एवं विकास का वाहक बन जायगा जैसा वह अतीत में रहा है।

उपर्युक्त समस्त प्रयोगों, गवेषणाओं तथा निरूपणों ने आधुनिकता को नये आयाम प्रदान किये हैं। बीसवीं शती के वर्तमान चरण में जीवन ग्रहण करने वाले व्यक्ति के लिए तात्विक या तथोक्त आधुनिकता के वर्तमान अनुषंगों के विकास के संदर्भ में यह समझ पाना मनसा कठिन है कि वैदिक काल के ऋषियों ने जब तत्व मीमांसा आरम्भ की थी अथवा प्रकृति की शक्तियों से जीवन में ऊर्जा तथा उल्लास ग्रहण किया था, तब वे भी आधुनिक थे अथवा यह कि समाज को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए अतीत में यूनानी, रोमन, भारतीय आदि मनीषियों ने जो आदर्श या प्रतिमान स्थापित किये थे, वे भी आधुनिकता के स्वरूप के संघटक थे। वस्तुतः, धर्म का उदय, मन्दिरों तथा गिरजाघरों का निर्माण, धर्म की संस्थागत अभिव्यक्तियों एवं औपचारिक निर्मितियाँ एवं स्थापनाएँ—ये सभी अपने युग में आधुनिकता के प्रकाशक एवं संस्थापक तत्व थे। काल-प्रवाह में जब ये सब उपादान स्थिर स्वार्थ में परिणित हो गये और मानव-विकास की नैसर्गिक सरणी के अवरोधक बन गए, तब इनकी आधुनिकता विनष्ट हो गई। यथास्थिति की चट्टानी अवस्था को तोड़ने के दौरान नाना अभिनव प्रयोग हुए, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और इनके संकुल प्रभाव में आधुनिकता का स्वरूप विकसित होता गया अथच वर्तमान आधुनिकता में वैसे आयामों का सन्निवेश हुआ जिनमें से कुछ के द्वारा पुरानी आधुनिकता के स्वरूप का प्रत्याख्यान घटित हो गया। आज की तात्विक आधुनिकता के निम्नांकित स्पष्ट आयाम उल्लिखित किये जा सकते हैं—

जीवन तथा समाज के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण; विवेकवादी चिन्तन; रूढ़ि-ग्रस्त परम्पराओं का उच्छेद; मनुष्य से बड़ी किसी अपार सत्ता का निषेध; अपार्थिव तथा अतिलौकिक की जगह पार्थिव एवं लौकिक की प्रतिष्ठा; ईश्वर का अपलाप तथा मनुष्य-क्षमता में आस्था एवं विश्वास; मनुष्य-मात्र की क्षमता एवं स्वतन्त्रता का स्वयंसिद्ध स्वीकरण; राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि सभी प्रकार के नियन्त्रणों का विरोध; व्यक्ति के महत्व का निरूपण; दमन, अत्याचार एवं शोषण की भर्त्सना; मनुष्य के विकास के लिए सहयोग, सह-चिन्तन एवं सह-अस्तित्व की प्रवृत्तियों का सम्पोषण; भौतिक जीवन को अधिकाधिक सुखमय बनाने की प्रवृत्ति; विश्व के अनावृत्त रहस्यों के उन्मीलन की प्रचेष्टा; अन्तर्जातीय सहचार एवं सम्मिलन की अभिलाषा; मानव-विवादों के निवारणार्थ बल-प्रयोग के बदले पारस्परिक विचार-विनिमय की प्रतिष्ठा; अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द, सौमनस्य तथा समझदारी बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक तथा अन्य उपलब्धियों का संयुक्त उपयोग; इत्यादि।

प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल द्वारा गठित 'युद्धापराध न्यायाधिकरण' (War Crime Tribunal) जिसकी बैठकों में भूतपूर्व अमेरिकी अध्यक्ष जॉनसन तथा उनके

सहयोगियों को वियतनाम युद्ध के लिए अपराधी (War Criminals) घोषित किया गया है वतमान आधुनिकता का एक नया चरण समझा जायगा चन्द्रमा तथा अन्यान्य ग्रहों पर मनुष्य को उतारने का प्रयत्न विकासकामी आधुनिकता का ही प्रतिफलन है।

एक व्यंजनापूर्ण विशेषण का उपयोग करें तो वर्तमान आधुनिकता को 'मानववादी आधुनिकता' कहा जा सकता है। विकासोन्मुखता समस्त आधुनिकता का प्राण-तत्त्व है। वर्तमान आधुनिकता भिन्न इस कारण से है कि इसके केन्द्र में मनुष्य है, मनुष्यता-मात्र है जिसके उपलालन में देश, वर्ग, जाति इत्यादि के पुराने बन्धन टूटते जा रहे हैं।

अब आधुनिकता के स्वरूप का मानव-इतिहास के संदर्भ में यों पर्याकलन किया जा सकता है :—

(१) युग की परिस्थितियों के प्रति सतर्क, सजग 'अनुक्रिया' आधुनिकता है। केवल 'प्रतिक्रिया' आधुनिकता नहीं।

(२) यह अनुक्रिया चिन्तन एवं क्रियान्वयन दो धरातलों पर घटित होती है।

(३) दोनों स्तरों पर यह अन्ततः व्यवस्था-स्थापना के रूप में प्रकाश करती है, यद्यपि आरम्भ में उसका स्वरूप जिज्ञासा, उलझन, अनास्था तथा गवेषणा अर्थात् छानबीन (Spirit of enquiry) का रहता है।

(४) आधुनिकता मूलतः मानव-संस्कृति के विकास तथा परिरक्षण से शृङ्खलित होती है। परिरक्षण की स्थिति तब आती है जब पूर्वार्जित सांस्कृतिक रिक्थ विनष्ट होने की आशंका से ग्रस्त बन जाता है।

(५) आधुनिकता गत्यात्मक नैरंतर्यपूर्ण प्रक्रिया है। अतएव यथास्थिति की जड़ता एवं निष्क्रियता इसे स्वीकार्य नहीं होती। "चरैवेति चरवेति" इसका पारिभाषिक धर्म है।

(६) आधुनिकता यथास्थिति के प्रति विद्रोहशील होती है। इसी कारण इसकी अभिव्यक्ति नानारूपिणी होती है। कभी यह जीवन की मांसल आसक्तियों की निर्वीर्य सड़ांध से ऊबकर अध्यात्मशास्त्र के अस्पष्ट चिन्तन-लोक में संक्रमण करती है और कभी अध्यात्म के वायवी, अनुर्वर जगत् से साफ-साफ नाता-तोड़ करती तथा विशुद्ध ऐन्द्रिय एवं मांसल तृप्तियों मे आत्म-प्रकाश करती है। कभी यह जीवन में व्यवस्था की अभिलाषिणी होकर प्रतिमानों की स्थापना करती है और कभी प्रतिमानों की व्यर्थता की अनुभूति से अनुप्राणित होकर, नई भूमियाँ तोड़ने एवं नये क्षितिज उद्घाटित करने में प्रवृत्त होती है। कभी यह पुरानी प्रतिमाएँ तोड़ने का प्रयत्न करती है और कभी उनकी मधुर स्मृतियों से उद्विग्न होकर, उनकी नव-स्थापना के लिए ललकती-तरसती है। अर्थात् आधुनिकता में सर्जन एवं संहार, संघटन एवं विघटन दोनों की प्रवृत्तियाँ कार्यशील रहती हैं। अतीत से इसे प्यार नहीं, तो भी विशिष्ट परिस्थितियों में अतीत इसे लुभाता है क्योंकि तब अतीत से इसे खाद्य मिलता है

मानव संस्कृति के विकास एवं परिष्कार से आधुनिकता की चेतना बंधी रहती है और इसी कारण वर्तमान की परिस्थितियों को स्वानुकूल मोड़ने के लिए वह पीछे भी देखती है, यद्यपि आगे देखना ही उसका प्रकृत स्वभाव है।

(७) यथास्थिति के प्रति विद्रोहशील तथा गतिधर्मी होने के कारण, आधुनिकता नवीन एवं अनभ्यस्त के प्रति भीतरी आकर्षण रखती है। परम्परा तथा रूढ़ियों की स्थिरता इसे उबाती है और इसी कारण क्या राजनीति, क्या समाजनीति, क्या अर्थनीति, क्या नीति-शास्त्र, क्या धर्मशास्त्र, क्या कला एवं साहित्य, मानव की समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र में यह नवीन उपलब्धियाँ अर्जित करने के लिए लालायित रहती है।

उपर्युक्त स्थापना के आलोक में यह अनुमान असंगत नहीं होगा कि वर्तमान काल में हम जिस आधुनिकता से परिचित हैं, भावी शताब्दियों में वह पुनः संशोधित हो सकती है, उसके संघटक तत्व बदल सकते हैं क्योंकि काल प्रवाहशील है, परिस्थितियाँ परिवर्तमान हैं और यथास्थिति को मानव चेतना देर तक सहन नहीं कर सकती।

शायद नवजागरण-काल से आज तक सभ्यता-संस्कृति ने जो प्रगति की है, उसमें अतीत की ओर देखने की कोई मुखर प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई; क्योंकि मध्ययुग जैसी प्रवाहरुद्धता का कोई संकट इस लम्बे अन्तराल में उपस्थित नहीं हुआ। यदि आणविक युद्ध छिड़ा और व्यापक पैमाने पर नरालंभन घटित हुआ तो आधुनिकता का स्वरूप बहुत-कुछ परिवर्तित हो सकता है।

एक तथ्य यहीं रेखांकित कर देना आवश्यक समझता हूँ कि आधुनिकता चूँकि युगीन परिस्थितियों के प्रति सजग प्रतिक्रिया एवं अनुक्रिया है, इसलिए यह पहले विचारों में आविर्भूत होती है और तब संस्थाओं एवं संघटनों में मूर्त रूप ग्रहण करती है। मनुष्य की चेतना चिन्तन के स्तर पर आधुनिकता को जन्म देती है और बाद में, संकल्प-प्रेरित चेष्टा के सहारे उसे गोचर रूप मूर्त्तित करने का उपक्रम करती है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के मूल में रूसो तथा वाल्टेयर जैसे मनीषियों की रचनाएँ कार्यशील थीं। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ तथा मानव-संस्कृति की पोषक अनेक प्रथाएँ (Institutions) मूलतः वैचारिक प्रसूतियों का ही मूर्त्तीकरण हैं। तब यह स्मरण रखना उपयोगी होगा कि आधुनिकता द्विस्तरीय होती है, विचारस्तरीय तथा व्यापारस्तरीय। मनुष्य के विकास के लिये इन दोनों का सहयोग आवश्यक है।

निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है :—

(अ) आधुनिकता के विशिष्ट गुण हैं,—अनवरत विकास तथा उस विकास की स्वाभाविक प्रगति को अवरुद्ध करने वाली स्थितियों के निराकरण की दुर्दमनीय चेतना।

(आ) अतएव जो कुछ भी अभी घटित हो रहा है, वह जो कुछ निकट भूत में घटित हो चुका है, सम्पूर्ण 'आधुनिकता' नहीं समझा जायगा।

(इ) इसी कारण चिन्तन, विचारण तथा सर्जन के कतिपय अभिनव प्रयोग जो निष्क्रिय, तिमिरदर्शी चेतना के विलास हैं (चाहे उनमें छटपटाहट की सच्चाई भी वर्तमान हो), आधुनिकता के गौरव से मंडित नहीं किये जा सकते।

(ई) साहित्य में भी, जैसा पहले संकेतित किया जा चुका है, आधुनिकता का प्रकाश युग संदर्भ के प्रति सचेतन, विधेयात्मक तथा विकासोन्मुखी प्रतिक्रिया-अनुक्रिया के रूप में होता है, जो साहित्यकार के परिवेश, प्रतिभा तथा व्यक्तित्व की अनुरूपता में प्रतिफलित होती है।



प्रतिपत्तिका

अपभ्रंश के कडवक छन्द का स्वरूप विकास

●

राजाराम जैन

●

शब्दों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों के मूल्य-निर्धारण में उपयोगी होने के कारण इनका सम्बन्ध मानव मात्र से है। जिस प्रकार आर्थिक मूल्यों का संचालन सिक्कों द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह शब्दो द्वारा। शब्द छन्द का रूप धारण कर विषयोगत भावाभिव्यक्ति कर सङ्गीत का कार्य सम्पन्न करते हैं। यही कारण है कि प्रकृति की पाठशाला में बैठकर मनुष्य ने जब से गुनगुनाने का कार्य आरम्भ किया, तभी से छन्द की उत्पत्ति हुई।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति 'छद्' धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ आवृत्त करने या रक्षित करने के साथ प्रसन्न करना भी होता है। 'निघण्टु' में प्रसन्न करने के अर्थ मे एक 'छन्द' धातु भी उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'छन्द' की उत्पत्ति इसी 'छद्' धातु से हुई है। भारतीय वाङ्मय में छन्द को वेदाङ्ग माना गया है और उन्हें वेद का चरण कहा है। महर्षि पाणिनि ने ईस्वी सन् के लगभग ५०० वर्ष पूर्व ही 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'' की घोषणा की थी। बृहद्देवता में कहा गया है कि जो व्यक्ति छन्द के उतार-चढाव को बिना जाने ही वेद का अध्ययन करता रहता है वह पापी है। यथा—

> आविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेज्जपेत् वापि पापीयान् जायते तु सः ॥

पर छन्दशास्त्र की व्यवस्थित परम्परा आचार्य पिङ्गल के छन्दसूत्र से प्राप्त होती है। अनादिकाल से ही मानव छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्य-ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक और स्वर समस्त मानव-समाज को स्पन्दनशील बनाते है। संवेदनशीलता उत्पन्न कराने में छन्द से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसी साधन के बल से मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षा एवं अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रेषित किया है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त गायत्री अनुष्टुप बृहती पंक्ति त्रिष्टुप और जगती छन्द

प्रमुख हैं। लौकिक संस्कृत में तो वर्ण और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का विविध रूप मे प्रयोग हुआ है। इस छन्द वैविध्य के बीच भी संस्कृत में अनुष्टुप छन्द इतना प्रसिद्ध रहा है कि वह पद्य का पर्यायवाची ही बन गया। संस्कृत भाषा की प्रकृति के अनुसार अनुष्टुप वह छन्द है, जो प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि करुण, वीर, श्रृङ्गार, विलास, वैभव, अनुराग, विराग प्रभृति विभिन्न प्रकार की अभिव्यञ्जना इस छोटे से छन्द में पाई जाती है।

ईसा पूर्व ६-७वीं सदी से ही लोक-भाषाओं ने जब काव्य का आसन ग्रहण किया तब भावलव के साधन 'छन्द' मे भी परिवर्तन हुआ। यों तो वैदिक काल में ही गाथा-छन्द का अस्तित्व था। ऋग्वेद में गाथा शब्द 'छन्द' और 'आख्यान' इन दोनों ही अर्थो में प्रयुक्त है। पर यह गाथा छन्द प्राकृत का वह निजी छन्द बना जो अनुराग-विराग एवं हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के भावों की अभिव्यञ्जना के लिये पूर्ण सशक्त है यही कारण है कि प्रवरसेन द्वितीय वाक्पतिराज और कुतूहल जैसे कवियों ने प्रेम, श्रृङ्गार, युद्ध एवं जन्मोत्सव आदि का वर्णन इसी छन्द में किया है। वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक काव्य में आद्यन्त गाथा-छन्द का ही प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत के कवियों की दृष्टि से सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यञ्जना इस एक छन्द में भी सम्भव है।

प्राकृत के पश्चात् ई० सन् की छठवीं सदी से ही जब अपभ्रंश ने काव्य-भाषा का आसन ग्रहण किया तो दोहा-छन्द अनुष्टुप के तृतीय संस्करण और गाथा के द्वितीय संस्करण के रूप में उपस्थित हुआ। यह दोहा-छन्द मात्रिक छन्द है और मात्रिक-छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत में प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि मात्रिक छन्दों के बीज लोकगीतों में पाये जाते हैं। संगीत को रागिनी देने के लिये मात्रिक छन्द ही उपयुक्त होते हैं। तुक का मिलना ही संगीत में लय उत्पन्न करता है। यही कारण है कि सम और विषम चरणों में तुक मिलाने की पद्धति संगीत के लिये विशेष प्रिय हुई है।

दोहा छन्द, जिसमें कि दूसरे और चौथे चरण में तुक मिलती है, अपभ्रंश के लिये अत्यधिक प्रिय रहा है। जितना भी प्राचीन अपभ्रंश साहित्य है, वह सब दोहों में लिखा हुआ ही मिलता है। कडवक पद्धति का आविर्भाव कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। महाकवि स्वयम्भू ने अपने 'रिट्ठणेमिचरिउ' की उत्थानिका मे पूर्ववर्त्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा है —

छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धड़िया।—रिट्ठ० १/२/११.

अर्थात् कवि चउमुह ने दुवई और ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धड़िया छन्द समर्पित किया। इस उल्लेख से इतना स्पष्ट है कि चउमुह कवि ने ध्रुवक और दुवई के मेल से पद्धडियाँ छन्द का प्रयोग किया है अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य में व्यवहृत कडवक इसी पद्धडियाँ छन्द का

विकसित रूप है। आलंकारिकों ने 'सर्गः कडवकाभिधः' (साहित्य दर्पण ६/३२७) कह कर कडवकों को सर्ग का सूचक माना है। संस्कृत का 'सर्ग' शब्द प्राकृत में आश्वास बना और यही अपभ्रंश में आकर कडवक बन गया। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि कतिपय अपभ्रंश ग्रन्थों में सर्ग के स्थान पर सन्धि या परिच्छेद शब्द का व्यवहार हुआ है, अतः कडवकों को सर्ग मानना उचित नहीं है। महाकाव्य में सर्ग का ठीक वही महत्व है जो नाटक मे अङ्क का। नाटक का अङ्क कथा के किसी निश्चित बिन्दु पर समाप्त होता है। वह एक अवान्तर कार्य की परिसमाप्ति की सूचना भी देता है। ठीक यही काम सर्ग भी करता है, पर कडवक इतने छोटे होते हैं कि वे इस सर्ग की उक्त शर्त को पूर्ण नहीं कर पाते। अतएव सन्धि को तो सर्ग अवश्य कहा जा सकता है, पर कडवकों को नहीं। हमारा अपना अनुमान है कि कडवक का विकास लोक-गीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा छन्द इसके लिये छोटा पड़ने लगा तब अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धड़िया छन्द का विकास किया। १६, २०, २४ २८, ३२ एवं ४८ अर्द्धालियों के अनन्तर घत्ता छन्द देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।

लोकगीतों के विकास से ज्ञात होता है कि वीरपुरुषों के आख्यान गेय रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। ये गीत किसी न किसी आख्यान को लेकर चलते थे। गेयता रहने के कारण आख्यान रोचक हो जाते थे। प्राकृत काल में भी प्रबन्ध लोकगीत अवश्य रहे होंगे और इन गीतों का रूप गठन बहुत कुछ पद्धड़िया छन्द से मिलता जुलता रहा होगा। यदि यों कहा जाय कि प्रबन्ध लोक-गीतों में व्यवहृत तुक मिलाकर आनन्दानुभूति उत्पन्न करना था, पद्धड़िया का पूर्वज है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः चउमुह कवि के जिस पद्धड़िया छन्द का उल्लेख स्वयम्भू कवि ने किया है, वह निश्चयतः प्रबन्ध लोकगीत से विकसित हुआ ही होगा। हम अपने कथन की पुष्टि में एक सबल प्रमाण यह उपस्थित कर सकते हैं कि कडवक ठीक प्रबन्ध लोकगीत का वह रूप है, जिसमें लोकगीत गायक चारुता और सुविधा के आधार पर अपने प्रबन्ध को कई एक गीतों से विभक्त कर विरामस्थल उत्पन्न करता है। ठीक यही परम्परा कडवक की है। इसमें भी एक सन्दर्भांश को कुछ अर्धालियों में निबद्ध कर घत्ता के द्वारा विरामस्थल उत्पन्न कर कडवक का सृजन किया जाता है। अतः कडवक का विकास प्रबन्ध लोकगीतों की परम्परा से मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

कडवक की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने 'छन्दोऽनुशासन' में (६/१) लिखा है :—

'सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा।' अपनी संस्कृत वृत्ति मे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि 'चतुर्भिः पद्धटिकाद्यैश्छन्दोभिः कडवकम्। तस्यान्ते ध्रुवं निश्चितं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवक, घत्ता चेति संज्ञान्तरम्।' अर्थात् चार पद्धडिया छन्दो का कडवक होता है। कडवक के अन्त में ध्रुवा या घत्ता का रहना आवश्यक है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'ध्रुवाभिधाने चैवास्य' (१५/१५) कहकर छन्द के अन्त में ध्रुवा का प्रयोग बताया है। आचार्य हेम ने ध्रुवा की परिभाषा षट्पदी, चतुष्पदी एवं द्विपदी के रूप में प्रस्तुत की है। यथा—

सा त्रेधा षट्पदी, चतुष्पदी द्विपदी च ।६/२.

प्रयोगात्मक विधि से कडवक की परिभाषा का विश्लेषण करने पर उसके अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। जम्मोटिया, जिसके कि प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ रचिता, जिसके कि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में २८ मात्राएँ, मलयविलयसिया, जिसके प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ; खडयं २३ मात्राओं वाला छन्द, अर्धाली २० मात्रा वाला छन्द, हेला २२ मात्रा वाला छन्द, दुवई, प्रत्येक अर्धाली में २८ मात्रा वाला छन्द धत्ता के पूर्व पाया जाता है और चरणों की संख्या १४ से लेकर ३० तक पाई जाती है। कडवक के लिये अनिवार्य नियम धत्ता का पाया जाना है। कडवक में छन्द के पदों की कोई निश्चित संख्या नहीं पायी जाती। पुष्पदन्त ने ९ अर्धालियों से लेकर १३ अर्धालियों तक का प्रयोग कडवक में किया है। इनके हरिवंश में ८३ वी सन्धि के १५ वें कडवक में १० अर्धालियों के पश्चात् धत्ता का प्रयोग आया है और इसी सन्धि के १६वें कडवक में १२ अर्धालियों के पश्चात् धत्ता आया है। स्वयम्भू ने ८ अर्धालियों के अनन्तर धत्ता छन्द का व्यवहार किया है। यही शैली रामचरितमानस में भी पाई जाती है। महाकवि तुलसीदास ने ८ अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहे का प्रयोग किया है।

महाकवि जायसी ने अपने पद्मावत में सात अर्धालियों के पश्चात् दोहा छन्द रखा है। यह छन्द शैली पुष्पदन्त की कडवक शैली से प्रभावित है। पुष्पदन्त ने ७ अर्धालियों से लेकर १२ अर्धालियों तक का धत्ता के पूर्व नियोजन किया है।

नूर मुहम्मद की अनुराग बाँसुरी में दोहा के स्थान पर बरवै छन्द का प्रयोग पाया जाता है। अर्धालियों की संख्या अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के समान ही है। अपभ्रंश काव्य में धत्ता की मात्राएँ समान नहीं हैं, अतः हिन्दी का बरवै भी धत्ते का ही रूपान्तर है। सोरठा, बरवं, कुण्डलिया का पूर्वार्ध एवं रोला का विकास भी धत्ता से ही हुआ है। यों तो रोला का प्रयोग अपभ्रंश में पाया जाता है, पर छन्द के विकास-क्रम में ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि धत्ता ने अनेक रूप धारण किये हैं और रोला भी उन्हीं अनेक रूपों में से एक है। यही कारण है कि स्वयम्भू और प्राकृत-पैंगलम इन दोनों के द्वारा प्रतिपादित धत्ता की मात्राओं में ही अन्तर पाया जाता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज ही सम्भव है कि कडवक वह छन्द है जिसमें ७ से लेकर १६ या १८ तक अर्धालियाँ हों और अन्त में एक ध्रुवक या धत्ता का व्यवहार किया गया हो।

●●

एक अप्रकाशित प्राचीन ब्रजभाषा कृति : हसन खाँ की कथा

●

महावीर प्रसाद शर्मा

●

'मेवाती का उद्‌भव और विकास' पर शोध कार्य करते समय मुझे एक प्राचीन ब्रजभाषा की हस्तलिखित प्रति देखने को मिली। इसे देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि जहाँ एक ओर मथुरा के करील-कुञ्जों में सूर अष्टछापियों के साथ प्रेम और भक्ति के सितार बजा रहे थे, वहाँ पड़ोसी प्रान्त मेवात[1] में वीर-रस प्रधान ऐतिहासिक रचना 'हसन खाँ की कथा' का प्रणयन नरसिंह मेव, कझौता नगर[2] में बैठकर कर रहे थे। प्रस्तुत कृति, हसन खाँ की कथा, टोडा रायसिंह, जिला टोंक (राज०) के दिगम्बर जैन मन्दिर (नेमिनाथ स्वामी) में गुटका नं० २१३ के पत्र सं० १२४ से १३५ तक लिखित है। गुटके की पत्र सं० १४ से १३५ तक है। इसका लिपिकाल सम्वत् १६३६ (सन् १५५२ ई०), पौष सुदी १४ शुक्रवार है। रचना अपूर्ण है। लिपिकाल से ज्ञात होता है कि रचना अवश्य ४०-५० वर्ष पूर्व हो गई होगी। इस तरह नरसिंह मेव सूरदास के समकालीन कोई प्रख्यात मेवाती कवि थे, जो ब्रजभाषा (उस समय की मेवात की साहित्यिक भाषा जिसे पिंगल भी कहते हैं) में काव्य रचना करते थे।

---

१. मेवात का सीमा हरियाणा प्रदेश में जिला गुड़गांव के झिरका फिरोजपुर, नगीना, नूह, सोनातावडू, बल्लभगढ़ एवं पलवल का क्षेत्र, उत्तर प्रदेश में कोसी, छातई एवं मथुरा का कुछ भाग, राजस्थान में जिला अलवर का किशनगढ़, तिजारा, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, गोविन्दगढ़, मालाखेड़ा का क्षेत्र एवं जिला भरतपुर की पश्चिमी तहसील डीग, कामा, नगर, पहाड़ी तक विस्तृत है।

—शोध-पत्रिका, उदयपुर, वर्ष १८, अंक ३, प्रस्तुत लेखक का पूर्वोत्तरी राजस्थानी एवं उसकी विशेषताएं' (लेख)

२. कझौता नगर, मालाखेड़ा। (अलवर) के पास एक प्राचीन नगर था, जो अब नष्ट-भ्रष्ट होकर अवशेष मात्र बचा है।

'हसन खाँ की कथा' मसनवी शैली में लिखी वीर-रस प्रधान ऐतिहासिक रचना है, जिसमें नारायण, पैगम्बर, विनायक, शारदा आदि भारतीय एवं सूफी देवी-देवताओं का स्मरण किया गया है। इसके बाद कवि ने अपने नगर कझौता (अलवर) का नाम बताया है। बाद मे बाबर के भारत में प्रथम आगमन से लेकर खानवा के युद्ध तक का बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस कृति का नायक हसन खाँ मेवात का शासक तथा लोदी की सेना का प्रधान था। अलवर से दस मील दूर बहादुरपुर इसकी राजधानी थी। खानवा का प्रसिद्ध युद्ध बाबर और सांगा के मध्य हुआ था। इस युद्ध में सांगा, हसन खाँ एवं इब्राहीम लोदी ने उसका डटकर मुकाबला किया। बाबर के दाँत खट्टे कर दिये गये। इनमें हसन खाँ से बाबर अत्यन्त परेशान था। वह जानता था कि हसन खाँ मेवात में समस्त आपदाओं का कारण एवं चालाकी-पूर्ण गतिविधियों का नायक था।[1]

यह एक अपूर्ण कृति है। इसमें १२७ छन्द हैं। २३वें छन्द की एक पंक्ति लुप्त है। इसकी भाषा उस समय की ब्रजभाषा है, पश्चिमी अपभ्रंश से विकसित हो गई थी। अपभ्रंश की 'उकार बहुला' प्रवृत्ति इस कृति की विशेषता है। साथ ही 'व' के स्थान पर 'उ', 'ब' के स्थान पर 'व', 'ड़' के स्थान पर 'र', 'न' के 'ण' के स्थान पर प्रयोग के आधार पर इस कृति को उत्तरकालीन अपभ्रंश एव प्राचीन ब्रजभाषा की रचना कहा जा सकता है। यदि इस कृति का प्रकाशन हो सका तो अपभ्रंश और ब्रजभाषा के मध्य के विकास की स्थिति और अधिक स्पष्ट हो सकेगी। यहाँ इस कृति के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो सकेगा कि इसकी भाषा का क्या रूप है, इतिहास के विद्यार्थी के लिये भी यह कृति बड़ी महत्व-पूर्ण है। इसमें वर्णित ऐतिहासिक तथ्य अधिक प्रामाणिक जान पड़ते हैं।

अथ हसन खाँ की कथा प्रारभ्यते

नारायणस्यो वीनती करौ। हाथ जोर मनि आखिर धरौ।
औवलि सुरो एक खुदाइ। पैगम्बर के लागौ पाइ ॥१॥
बड़ा पीर ख्वाजे अजमेरि। जिन तुरकाणा की सा फेरि।
सेह गोह खाते वुखार। ख्वाजे बैठा मान कुफार ॥२॥
सौरौ शारद् महा माइ। भूल्यौ अखिरु देहि समझाइ।
विनाइग अखिरु दै मोहि। गहो कान सिर नाऊं तोहि ॥३॥
कथा कहत मत लावहि खोडि। अखिरु देहि जम करयो जोडि।
नगर कझौता उत्तिम थान। नरसिंगु मेउ कथै तह ज्ञान ॥४॥
तौ वैकुंठह वासौ लहौ। जैसी बीती तैसैं कहौ।
धुर वैसाख बयासी अडे। इब्राहिमु अरु वावरु लडै ॥५॥

1 दी केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ग्रन्थ ५ पृ० ११

हूं तो कहू हुवा सनमान । ऐसौ किसौ कथहिगौ ज्ञान ।
लोक महाजन बैठे आइ । नरसिंघु भणइं लडै क्यौ राइ ॥६॥
राज राजनित राहे हुए । भै कारणि को रौख्यौ गए ।
भैरू मिहालू व्याही जोइ । औढ़ी पड़ै और की होइ ॥६॥
एतर दूनौ दीजहि हारि । सबल होइ सोले सै मारि ।
जसरथ रहै सवाई रौकि । बहुरु जला सोभै माहि ठोकि ॥८॥
रावण हौ लंका कौ राउ । औरहि देण देतौ पाउ ।
चारि चौकड़ी भो वरु दियो । मैं ही मुलकु समावो लियो ॥६॥
गरब किये सीता ले गयो । श्री राम कोपंतर भयो ।
बन्दर खिडे अठारह कोडि । दशगिर मारे दशगिर तोडि ॥१०॥
लंका रामु ले गयो मारि । कंचन फैलि गए संसारि ।
परदुख भंजन राइ अजीतु । राजा बडौ विक्रमाजीतु ॥११॥
परदुख भानै याको करै । ताकौ आकु दुनी महि फिरै ।
किते किते हुए भौवाल । भै उपरि झाडे करवाल ॥१२॥
भैरु मिहालू व्याही जोइ । मरती वेरा साथि न सोइ ।
तखति बैठि इब्रहमु रज्यो । भै कहु बाबरु काबिल सज्यो ॥१३॥
देश नाश की चिन्ता नाहि । पासे खेलै हरमन माहि ।
पासे खेलै राखै सार । हिन्दू देश लियो सब मारि ॥१४॥
ताइ ठाइ के थाने फिरे । हिन्दू आइ चौली उतरे ।
मकनु बठो थौ खाके राजि । सांगा आगै चालो भाजि ॥१५॥
इहरू बात काबिल महि गई । तबही तहि अलवाई भई ।
जम्बू देश पड्यो तब सोरु । मुगलन मारि लियो लाहौरु ॥१६॥
मारि कूठि बाहुडि घर गए (यौ) । गाढौ दिढु करि दाउ दियौ ।
मधिदेसु लोदी कौ राजु । मति हीणौ कछु नाही साजु ॥१७॥
ताकै कोइ करावण नाहि । घर फूटे ते उरझो जाहि ।
जसन अखाड़े उपरि चाउ । मकनु कहै दो दीजहि पाउ ॥१८॥
नवा राज, नवा तणाउ । आदमु (आलमु) लेइ कोट महि चिणाइ ।
जब तब तास्यो दूजौ करै । वैसी ग्वालियर दावो दियो ॥१६॥
मार्‍यो आदमु कियो कुफारु । वाकै साथी सत्रह हजार ।
पकड़ लिया बहु खान जलाल । काढी आंकि उपाडी खाल ॥२०॥
माके जाए मारे वीर । गरदन बहुत पजै सहतीर ।
बैठो रहै छत्र के पासि । भो वाखा मारियो विसासि ॥२१॥
मंत्र अपर छन कीयो राति । सैंदुखान मार्‍यो परभात ।
तोबी माह उखाड़ी पीठि । तुहरे गले राज की ऊठि ॥२२॥

गयौ उभारौ भाजी वाउ । दावादरु न दीजो दाउ ।
तव बावरु काबिल तहि चढ्यो ।.............................॥
पैगम्बर दीयो फुरमान । पकडि खाडी गही कमान ।
दीनी जिमी मुलक संसार । तो कहु कोई नाहि जुहयारु ॥२३॥
षुरासान कबिल तहि चढधो । तव बावरु घाटी नीकल्यो ॥२४॥
कोई राम को जपै खुदाई । तव काफर मेलेचुरी बुलाई ।
बडडेमूड पेट माथराी । तिन देखें आवें कापरणी ॥२५॥
हाकि लडन दोलाति खा गयो । कटकु समेतौ मदी महि बहौ ।
स्याल कोट मारौ लाहौरु । सुनै उडे सवायो मोरु ॥२६॥
इनसौ लडैं होइ गरकाबु । फिरि मार्यो मेहर्यो कुसाब ।
तव उमरे हुए सवै मखमूल । वावर पातिसाह की पडी कबूल ॥२७॥
का वस्त न लेई काले दाम । जर लूटे सीहनंद समान ।
लसकर आए बहुत विसार । हासी लूटी और हिसार ॥२८॥
काफर आए असीते मोल । पाणीपथ जो पहुँचे लोल ।
लसकर टिक्यो दिल्ली स्यो आइ । करहु फिरादि आगरै जाइ ॥२९॥
तू लौं रहौ महम महि बैसि । काफर फैलै तेरे देस ।
तवहि तमकि उठौ भौत्रालु । तीनि लाख घोडे करछाल ॥३०॥
सुणत फिराद बारगहु दीय । देस-देस की साखती कीय ।
पूरब पंडवा देस बिहार । लशकर उतरि आयो पार ॥३१॥
देसु बंगाला बडा मुकाम । आवहु रोस हुवा सुलतानु ।
पच्छिम देस खिडि गुजरात । खिडिया वागडु अरु मेवात ॥३२॥
लशकर गुडि करि आए ठाट । फौंज जुडी मथुरा कै घाट ।
रई उड़ी छाए असमान । साहि अलम कहु भए सलाम ॥३३॥

× × × ×

भोगी देसु लोगु भोवाल । तिनका साथी इब्राहिमु मुग्वालु ।
लियो आगरौ भाजी आउ । लोदी पड़ी हुसन खा लाज । ६१॥
वहु भैं कारिणा मुगलन स्यो लडे । भागि आगरौ अलवर पड़े ।
अलवर मेउ हसन खान । दिली कौ सहना परधान ॥६२॥
दिली मेव की बांधी लीक । टका लाख घोड़े चालीश ।
जिते दिली हो गए राज । मेवाती की राखी आन ॥६३॥

इस प्रकार इस कृति में बाबर के भारत-आगमन के बाद किए गये सभी युद्ध
ए हुआ है बजभाषा-काव्य में सभवत यह कृत वीररस प्रधान प्रथम प्रामा

कृति भी होगी। इसके सम्पादन एवं प्रकाशन से ब्रजभाषा एवं साहित्य में एक नया रत्न और सम्मिलित होगा।

व्रात्य और उनका ऐतिहासिक अध्ययन

राजछत्र मिश्र

वैदिक समाज का एक विशिष्ट सदस्य व्रात्य है। सर्वप्रथम व्रात्य-विषयक विवरण अथर्ववेद के सम्पूर्ण पन्द्रहवें काण्ड में उपलब्ध होता है। यह विवरण नितान्त भ्रामक, गूढ़ एवं अस्पष्ट है। इस काण्ड पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। तथापि सम्पूर्ण काण्ड पर दृष्टिपात करने से व्रात्य के दो स्वरूपों का निर्धारण होता है, दैवी तथा मानवी। इसके मानवी स्वरूप का वर्णन उक्त ग्रन्थ के १५वें काण्ड के ग्यारह से तेरह पर्यायो में किया गया है, जहाँ वह विद्वान् अतिथि के रूप में गृहस्थ के घर उपस्थित हुआ है। शेष पर्यायों में वह आदि-पुरुष, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्म और प्रजापति कहा गया है।

(१) **व्रात्यों की वेश-भूषा**—अथर्ववेद के वर्णनानुसार व्रात्य सिर पर दिन के समान पगड़ी (उष्णीष) बाँधता है। उसके केश रात्रि के समान काले हैं। वह पीले वर्ण की माला पहने है तथा हाथ में एक धनुष लिये है। उसकी गाड़ी विपथ पर चलने वाली है, जिसे हाँकने के लिये वह एक तूफानी कोड़े का प्रयोग करता है। वह वक्ष पर नीले (नीलमस्पोदर) तथा पीठ की ओर लोहित (लाल) मृग-चर्म धारण करता है। अथर्ववेद का उक्त विवरण नितान्त सांकेतिक है। उसका आशय समझने के लिए तांड्य महाब्राह्मण का उद्धरण देना आवश्यक है—

उष्णीषंच प्रतोदश्च ज्याहृणोडश्च विपथश्च फलकास्तीर्णः कृष्णशं वासः कृष्ण वलक्षे अजिने रजतो निष्कस्तद् गृहते। ता० ब्रा० १७, १, १४।

उक्त पद्य में व्रात्य गृहपति के द्वारा व्रात्यष्टोम में दक्षिणा दी जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख है, जिसमें उसकी वेश-भूषा आदि की सूची प्राप्त होती है। इसमें पगड़ी

(उष्णीष), लालधारी वाले दुहरे किनारे का परिधान, काले रंग के दो चर्म कोड़ा, लौहशलाका और वाणों से रहित धनुष सम्मिलित हैं। वहाँ उनकी पटरों से ढकी गाड़ी का भी उल्लेख है जिस पर वे चलते थे।

(२) **व्रात्यों का सामाजिक स्थिति**—अथर्वकाल में व्रात्य को अतिथि के रूप मे सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है। उसमें वर्णन है कि विद्वान् व्रात्य यदि राजा के यहाँ अतिथि बनकर जाय तो राष्ट्र के हित के लिये उसका सम्मान करना चाहिये—तद्यस्यैव विद्वान् व्रात्यो राज्ञोतिथिगृहानागच्छेत् । श्रेयांसमेनमात्मानो मानयेत तथा क्षत्राय न वृश्चते तथा राष्ट्रीय न वृश्चते (अथर्ववेद १५, १०, १—२)। यदि वह गृहस्थ के घर जाता है तो अग्निहोत्र को भी त्याग कर उसका अतिथ्य करना चाहिये। उसकी आज्ञा से पितृयान (पितृ-लोक का मार्ग) और देवयान (स्वर्गलोक का मार्ग, का ज्ञान होता है।

(३) **व्रात्यों का स्थान**—व्रात्यों का स्थान निर्धारण कठिन है। वेबर ने (हस्ट्री आफ ई० लि० लन्दन १८७५ पृष्ठ ११२) मागधो से इनकी मित्रता के कारण व्रात्यों को इन्होंने मगध का निवासी माना है। परन्तु व्रात्य का अर्थ भ्रमण करने वाला होता है और अथर्ववेद में इसके समस्त दिशाओं में भ्रमण का वर्णन भी है। ये स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहते थे, इसका प्रमाण उस उद्धरण से भी मिलता है कि ये कृषि, व्यापार या पठन-पाठन नहीं करते थे—न हि ब्रह्मचर्यं चारन्ति न कृषिन्न वणिज्या..(ता० ब्रा० १७, १, २)। मागध भी चारण थे और इसी सामान वृत्ति के कारण ही व्रात्यो का मागधों के साथ मित्रता का वर्णन किया गया है।

(४) **व्रात्यों का समीकरण**—अथथर्ववैदिक व्रात्य को समझने के लिए परवर्ती साहित्य एवं मतों की आलोचना आवश्यक है। सामवेद के तांड्य महाब्राह्मण के उद्धरणों का अध्ययन करने के पश्चात् राजाराम रामकृष्ण भागवत महोदय ने व्रात्यों का अनार्य उत्पत्ति सिद्ध किया है। उनके अनुसार व्रात्य ऐसे लोग थे जिनकी महत्ता जातिबष्कृतों के देश मे रहने वाली स्थियों के साथ अनुचित सम्भोग करने से क्षीण की गई थी तथा वे जर्जर शरीर होकर घर लौटे और धीरे-धीरे नियमाचार का पालन न करने से व्रात्य गिने जाने लगे। परन्तु भागवतः महोदय का यह मत सायण के 'शमनीचमेंद्र' पद के भाष्य पर आधारित है। सायण ने उक्त पद का अर्थ यौवन रहित और निर्वीय व्रात्यों से किया है। परन्तु भागवत महोदय का मत मूल ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता है। अतः व्रात्यों की अनार्य उत्पत्ति सर्वथा कपोल-कल्पित है।

एक अन्य मत ओल्डेनवर्ग (बुद्ध पृ० ४००) का है, जिसके अनुसार व्रात्यों को वर्ण-सकर और अब्राह्मण सिद्ध किया गया गया है। इस मत का आधार है व्रात्यों की मागधों से मित्रता। अथर्ववेद में मागध व्रात्य का मित्र कहा गया है। मित्रोमागधों' (अर्थ० १५, २; ५)। [illegible]घायन सूत्र में मागध को सूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न कहा गया है बौ० पु० १६,

१७, ७)। इसके साथ ही मनु मागध को वैश्य पुरुष तथा विवाहित क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न (मनु० १०, ११/गौ० ध० सू० ४ १७) कहा है। इससे मागध वर्णसंकर सिद्ध होता है। इसलिये मागधों के मित्र व्रात्य भी अब्रह्मण और वर्णसंकर थे।

ओल्डेनबर्ग का मत ग्राह्य नहीं है। क्योंकि मागध से व्रात्य का सम्बन्ध केवल इस बात का द्योतक है कि दोनों भ्रमणशील थे। कृषि आदि व्यसायों के द्वारा स्थायी जीवन नहीं बिताते थे। ताड्य महाब्राह्मण में कथन है कि व्रात्य लोग अदीक्षित (उपनयन संस्कार आदि में) होते हुये भी दीक्षित वचन बोलते थे। न तो ये कृषि और वाणिज्य करते थे और न ब्रह्मचर्य का पालन ही करते थे (हीनाएते हीयन्ते ये व्रात्य प्रवसन्ति, न ही ब्रह्मचर्यंन्चरन्ति न कृषिन्न वाणिजां-ता० ब्रा० १७, १, २,। सायण ने उक्त ग्रन्थ पर भाष्य करते हुये चार प्रकार के व्रात्य बतलाये हैं --निन्दित, कनीयस, ज्यायस, और हीन। इन सबके लिये ब्राह्मण व्यवस्था में लाने के हेतु चार प्रकार के यज्ञों का विधान,किया गया है (ता० ब्रा० अध्याय १७)। हीन वे व्रात्य हैं जो दलित हैं और निन्दित वे हैं जो पाप के कारण नृशंस हो गये है। कनिष्ठ वे लोग हैं जो व्रात्यों के बीच रहने से व्रात्य हो गये हैं। ज्यायस वे हैं जो वृद्ध और नपुसक हो जाने के कारण व्रात्यों के साथ रहने लगते थे। इस प्रकार उक्त वर्णन में किसी न किसी कर्म के आधार पर ही व्रात्य मान लिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य (उपनयन आदि) का पालन करने वाले लोग व्रात्य थे।

धर्मशास्त्रों के काल में व्रात्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण प्राप्त होने लगता है। मनु ने एक श्लोक में द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में अव्रती (व्रतों का पालन न करने वाले एवं सावित्री-भ्रष्ट लोगों को व्रात्य कहने का विधान किया है :—

> द्विजातयः सवर्णासु जनयत्यव्रतांस्तु तान्
> तान् सावित्री परिभ्रष्टानव्रात्यानीति विनिर्दिशेत ।।मनु० १०, २०।

उक्त श्लोक से स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था नियमों का उल्लंघन करने वाले लोगों (आर्यो) को व्रात्य कहा जाता था। यदि इनको वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित करना होता था तो व्रात्यष्टोम तीन यज्ञ (कृच्छ) कराकर पुनः उपनयन संस्कार कराया जाता था :

> येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।
> ताश्चारित्वा त्रीन्कृच्छान्यथाविध्युपानयेत ।।
> —मनु० ११, १९७,

एक अन्य श्लोक में व्रात्यों के लिये यज्ञ और अन्य कर्म और अभिचार तथा अहीन कृत्य आदि करने का विधान किया गया है:

> व्रात्यानां याजनां कृत्वा परेषामन्य कर्म च।
> अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छैर्व्यपोहति ।।
> —मनु० ११, १९७

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मण-व्यवस्था में मनमानी करने वाले और आचरण-रहित जीवन व्यतीत करने तथा संस्कारों का समयानुसार सम्पादन न करने वाले लोगों को .ात्य घोषित किया जाता था और वे लोग भ्रमण करके अपनी जीविका चलाते थे। इनकी पहचान के लिए एक विशेष प्रकार की वेशभूषा थी। व्रात्यष्टोम आदि विद्वानों द्वारा पुनः इन्हे वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित कर लेने पर समाज में पुनः आदरणीय स्थान प्राप्त हो जाता था। अथर्ववेद में ऐसे ही व्रात्य का वर्णन है जो वर्ण व्यवस्था में ग्रहण किया हुआ है। इसकी उच्चता बतलाने के लिये इसको आर्य अतिथि और महान् देवों का रूप दिया गया है और उसका आदर करने का आदेश दिया गया है। इन व्रात्यों की स्थिति तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की कठोरता का द्योतक है।

(५) **व्रात्यष्टोम विषयक ग्रन्थों की सूची** :—अधोलिखित ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौत सूत्रो में व्रात्यष्टोम के विधान का प्रसंग है।

(१) जैमिनीय ब्राह्मण २, २२२।
(२) ताण्ड्य महाब्राह्मण १७, १-४।
(३) लाटायन श्रौतसूत्र ८,६।
(४) बौधायन श्रौतसूत्र १८, २५।
(५) कात्यायन श्रौ० सू० २२, ४, १, २८।
(६) आपस्तम्ब श्रौ० सू० २२, ५, ४-१४।
(७) सांख्यायान श्रौ० सू० १४, ६६, ७२।

(६) **अन्य ग्रन्थ** :—

'दर व्रात्य' हैवर चे० डब्ल्यू, स्टडीज इन ब्राह्मणाज्, ए० सी० बैनर्जी और 'हिन्दू संस्कार', डा० राजबली पाण्डेय।

पटियाला के राज्याश्रित कवि : निहाल

उदय शंकर 'शोख'

'भाखा' कवियों को प्रश्रय देने का श्रेय पटियाला राज्य को विशेष है।
एक ऐसा राज्य था जहाँ दो शताब्दियों तक भाखा कवियों की धूम मची रही
पश्चात् इसी राज्य को साहित्य, कला एवं संस्कृति की श्रीवृद्धि का श्रेय !
निहाल इसी राज्य के आश्रित दरबारी कवि थे।

कवि निहाल का संपूर्ण जीवन परिचय प्राप्त नहीं है। अन्त:साक्ष्य के
कश्मीरी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज काश्मीर से दिल्ली चले आये और यहीं बस
एक कृति में निहाल ने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है :

'पुर काश्मीर उत्तर दिशान। सब भूमि बीच पावन महान ।।
तिंह रामचन्द्र पंडित सुजान। शिवरूप भयौ विद्या जहान ।।
तजि काश्मीर आये पंजाब। दिल्ली निवास कीनौ सिताब ।।
सत साल रहे दिल्लीस पास। तिंह तीन पुत्र भयो मनो व्यास ।।
जामैं प्रवीण बड़ दिलाराम। दस चार इलम को मनौ धाम ।।
चालीस साल बीते सुचैन। महाराज कृपा के हेरि नैन ।।
ता नगर पटयालो वास कीन। महाराज साहाब सिंह चीन ।।
ता तने कवि जानो निहाल। श्री कर्मसिंह तापै दयाल ।।
ह्वै कै कृपाल प्रतिपाल कीन। निज सभा बीच तहि ठौर दीन ।।'

निहाल कवि कृत 'साहित्य शिरोमणि' ग्रंथ के रचनाकाल की दृष्टि में र
ह सकते हैं कि पटियाला नरेश महाराजा कर्मसिंह के राज-दरबार में कवि का
८९३ वि० के पूर्व हो चुका था, क्योंकि उक्त ग्रंथ की रचना सं० १८९३ में हु
द्रकांत बाली इस ग्रंथ की रचना सं० १८६१ वि० में मानते हैं।[1] महाराजा व
प्रहालय में सुरक्षित और नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज विवरणिक
र्माणकाल सं० १८९३ वि० दिया हुआ है—

---

[1] पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास ले० चंद्रकांत बाली पृ० ६४

३ ९ ८ १
राम नाथ बस नभ गनो संमत अंक मिलाइ।
श्रावन सप्तम सुकल पष ग्रंथ पूर सुषदाइ ॥[1]

ग्रंथ की परिसमाप्ति में पटियाला नरेश का नाम भी आया है—"इति श्री महाराजाधिराज महाराज राजेस्वर करम सिंघ महिंदर बहादुर हित कवि निहाल विरचित साहित शिरोमणि ग्रंथे अलंकार वरननो नाम पंचमो प्रकासः ॥५॥०॥संपूरणं॥"[2]

महाराज कर्मसिंह के स्वर्गारोहण के पश्चात् महाराज नरेन्द्रसिंह के काल में भी निहाल कवि का यथापूर्व आदर और सम्मान बना रहा। नरेन्द्रसिंह के लिए भी कवि ने कुछ ग्रंथो का सृजन किया और महाभारत के अनुवाद महायत्त में भी अपना योगदान कर भाखा साहित्य की श्रीवृद्धि की।

काव्य संपदा :

कवि निहाल की काव्य-संपदा विशाल है। महाराज कर्मसिंह और नरेन्द्रसिंह के राजत्वकाल में कवि ने निम्नांकित ग्रंथों की रचना की।

(१) **साहित्य शिरोमणि**—महाराज कर्मसिंह की आज्ञा से, इन्हीं के पढ़ने के लिये, निहाल ने इस ग्रंथ को लिखा था। यह काव्यरीति का अच्छा ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना में कवि ने आचार्य मम्मट कृत काव्य प्रकाश का आधार ग्रहण किया है—

'ममट मत जे काव्य के कछू पदारथ छीन।
ग्रंथ बांध पूरन कियो कवि निहाल मतिहीन ॥'

ग्रंथ का विषय है—

काव्यभेद रस नाइका भाव दोष लंकार।
साहित सिरोमणि ग्रंथ मै तत्व पंच निरधार ॥

यह ग्रंथ पाँच प्रकासों में विभक्त है। प्रथम प्रकास में काव्य-भेद, द्वितीय में रस और उसके भेद, तृतीय में नायिका भेद, चतुर्थ में काव्य-दोष वर्णन और पंचम में अलंकारादि का विवेचन हुआ है।

(२) **ज्योति प्रकाश**—संस्कृत के कई ग्रंथों का तत्व लेकर कवि निहाल ने इस ज्योतिष ग्रंथ की रचना सात दिन में की थी।

(३) **लघु जातक** यह भी ज्योतिष ग्रंथ है

माधव निदान—वैद्यक विषय से संबंधित यह ग्रंथ भारतीय चिकित्साशास्त्र का ज्ञान देने योग्य है।

महाभारत (दानपर्व)—दशम गुरु ने महाभारत के 'भाखानुवाद' का जो महायज्ञ प्रारंभ किया था उसे पूर्णाहुति महाराज नरेन्द्रसिंह ने प्रदान की। कवि निहाल ने दानपर्व का पद्यानुवाद कर उस महा-यज्ञ में अपना योग दिया था।

दशम स्कंध— प्रसिद्ध भागवत के दशम स्कंद का हिंदी अनुवाद।

राम चंद्रोदय—इस ग्रंथ में कवि ने राम-कथा का वर्णन अच्छे ढंग से किया है। इसके निर्माण में केशवदास रचित रामचंद्रिका का आधार लिया गया है।

रामायण—मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित को लेकर स्वतंत्र एवं मनोहर शैली मे लिखा गया यह अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है।

पूर्ण प्रकाश—इस ग्रंथ में मुक्तक कविताओं का संग्रह किया गया है। इसमें विभिन्न विषयों पर छंद लिखे गये है।

) **फूल कथा**—निहाल कवि ने जहाँ स्वतंत्र मुक्तक काव्य और महाकाव्य का प्रणयन किया वहीं उन्होंने खण्डकाव्य की रचना भी की। फूल-कथा उनकी ऐसी ही रचना है। इसमें वर्णित कथा कुछ उत्पाद्य है और कुछ कल्पित। फूल-कथा में जैसलमेर की एक दन्तकथा को सूत्र बनाकर तांत्रिक और राजनीतिक मोती पिरोये गये हैं। यह सुखान्त काव्य है। शायद कवि ने इस ग्रंथ की रचना इस कारण से की हो कि पटियाला नरेश के पूर्वज भी शालिवाहन राजपुत्र के वंशधर हैं, जो जैसलमेर संस्थापक एव निवासी थे।

उपर्युक्त ग्रंथों से अतिरिक्त कवि की दो अन्य रचनायें भी हैं जिनका उल्लेख नागरी [illegible]णी सभा की खोज विवरणिकाओं में हुआ है--

। **सुनीति ग्रन्थ प्रकाश**—इस ग्रंथ का विषय राजनीति है। इसकी रचना सं० १८९६ में हुई थी। ग्रंथ के अंत में निर्माण तिथि दी हुई है—

६ ९ ८ १

दरसन निधि सिधि छित प्रगट मघसर सित रवि दूज।
सुनीत पंथ परकास यह रच निहाल द्विज पूज ॥[1]

सुनीति पंथ प्रकाश भी महाराज कर्मसिंह के लिये ही लिखा गया था। कवि ने गुरु और गुरु गोविंदसिंह का भी स्मरण किया है—

---

[1] खोज विवरणिका—नागरी प्रचारिणी सभा-काशी सन् १९०१ ई० पृ० ७२

"गुरु नानक गोविंद हरि सुफल कीजिये ग्रन्थ।
सुनीत पंथ परकास कडे षालसा पंथ ॥८६५॥
पंथ षालसा गुरु ने कीने सिंघ भूपाल।
करो ग्रन्थ हित तिनोके दासन दास निहाला ॥८६६॥

इति श्रीमन महाराजाधिराज राज राजेश्वर करमसिंघ महिन्द्र बहादुर हित विरचितं राजनीत सुनीत पंथ परकास गरंथे उत्तरारध सुकवि निहाल दिज बंसे सुनीत पंथ प्रकास संपूरणं ॥"[1] इसके छंद शिक्षाप्रद हैं।

(१२) सुनीति रत्नाकारु—यह ग्रंथ महाराजा नरेन्द्रसिंह के लिए कवि ने सं० १९०२ वि० में बनाया था। इस ग्रंथ की प्रतिलिपि भी उसी समय की गई थी। यह अत्यंत लघु ग्रंथ है। ग्रंथारम्भ में तथा ग्रंथ के अंत मे रचना-काल आदि का निर्देश है—

"श्री सति गुरु प्रसादि ॥ अथ सुनीति रतनाकर ग्रन्थ सुकवि निहाल कृत लिष्यते ॥ दोहा ॥

गनपति गौरी नन्द को नमस्कार कर जोर।
विघन हरो सभ सुख करो ग्रन्थ पूरीए मोर ॥१॥
कविन सभन को बंदता सुकवि निहाल बषान।
नीत सु रतनाकर रच्यौ छिमा करी निज मान ॥२॥
देवी श्री भुवनेश्वरी मन की मनसा पूर।
ग्रन्थ यहै पूरण करो सकल विघन कर चूर ॥३॥
उन्नीसै दो साल पौष द्वादशी आदि।
गुरु दिवस गुरु कृपा कर कीनी ग्रन्थ मृजाद ॥४॥
नरेन्द्रसिंह महाराज हित रच्यो नीत को पंथ।
नीत सुरतनाकर यहै अद्भुत ग्रन्थन मंथ ॥५॥[2]

इस ग्रन्थ में मुख्यतः दोहा तथा कवित्त छंद का प्रयोग है।

निहाल कवि ने दोनों महाराजाओं के राज्याश्रय में उपर्युक्त द्वादश ग्रन्थरत्नों की रचना की थी। श्री चन्द्रकांत बाली ने अपने ग्रन्थ में केवल १० ग्रन्थों की गणना की है।[3] उन्होंने सुनीति पंथ प्रकाश तथा सुनीति रत्नाकर का विवरण नहीं दिया है। हो सकता है कि कवि ने कुछ और ग्रन्थों को रचा हो, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

भाषा :

कवि निहाल की रचनाओं की भाषा मूलरूप में ब्रज है। उस पर गुरुमुखी तथा खड़ी बोली का भी प्रभाव यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। अधिकांश ग्रन्थों की लिपि गुरुमुखी है।

---

१. खोज विवरणिका—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९०३ ई०, पृ० ७२।
२ वही पृ० ७२
३ पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास चन्द्रकांत बाली, पृ० ३४१

महाराजा काशीनरेश के पुस्तकालय में वर्तमान महाभारत-दानपर्व, साहित्य शिरोमणि, सुनीति पंथ प्रकाश, सुनीति रत्नाकर की लिपि नागरी है।[1] ये ग्रन्थ काशीनरेश के पुस्तकालय में कैसे आये, कहना कठिन है। हो सकता है कि निहाल कवि का किसी समय आगमन काशीनरेश के राज दरबार में हुआ हो। पर इससे इतना तो निश्चित है कि निहाल अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। जिस कारण से उनके ग्रन्थों का सम्मान न केवल पंजाब प्रान्त तक सीमित रहा बल्कि उत्तर प्रदेश में भी इनका यथोचित आदर था।

अलंकार :

'साहित्य शिरोमणि' जैसे ग्रन्थ के प्रणेता कवि निहाल काव्य के गुण और दोष से पूर्ण परिचित थे। रस, अलंकार एवं नायिका-भेद के वे माहिर थे। उनकी कृतियों में शब्दालंकार और अर्थालंकर दोनों का बाहुल्य है। अनुप्रास का एक सरस छंद देखने योग्य है—

हरी भरी भूमि सब झूमि तरु डार डार फूल फल पल्लव रसालन विसाल है।
मौर के झलान के झलान झरझरै झौर, वेली जे नवेली चेली मेली यों रसाल है।
कोमल अमल तृण कमल कि लाल ताल मंद मंद गौन पौन त्रिविध निहाल है।
कोमल कपोल धीर केकी केका कल धीर कोमल कलापै असलापै तान जाल है।

यमक— बार बार बर मंज कै बार सुकावत बार।
पियै सुधाकर तै सुधा अहिकुल है पिछवार॥

उत्प्रेक्षा— पियो सुधाकर कै सुधा अहिकुल सकट बटोर।
मनो काम कर पकरि कै लीनो अमी निचोर॥

इस प्रकार हम देखते है कि कवि निहाल का साहित्य काव्य की विधाओं से आबद्ध होते हुए भी राष्ट्र को प्रेरणा, स्फूर्ति एवं सक्रियता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। रीति-परम्परा से मुक्त होकर कवि ने केवल पटियाला राज्य के गौरव, यश एवं कीर्ति का ही वर्णन किया है। अपने समय में निहाल ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी लेखनी को नूपुरों की झंकार से पृथक् रख साहित्यकार का दायित्व सफलता से निभाया। हिन्दी साहित्य जगत निहाल कवि को कभी नहीं भूल सकता।



---

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण. खंड १, पृ० ५१४, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

हलधरदास कृत 'सुदामा चरित'
डॉ० सियाराम तिवारी द्वारा सम्पादित
एक प्राचीन खण्डकाव्य

प्रकाशक : भारती-भवन, पटना-१
संस्करण : प्रथम, १९६६
मूल्य : पांच रुपये

सामान्य हिन्दी पाठक नरोत्तमदास कृत 'सुदामाचरित' से तो भलीभाँति परिचित है, किन्तु हलधरदास के 'सुदामाचरित्र' के सम्बन्ध में उसे उतनी जानकारी नहीं है। यह ग्रंथ यद्यपि पहले भी चार-पाँच स्थानों से प्रकाशित हो चुका था, किन्तु अनेक हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के आधार पर इसका सर्वप्रथम सुसम्पादित संस्करण प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० सियाराम तिवारी को ही है।

सम्पादक द्वारा दिये हुए परिचय से ज्ञात होता है कि हलधरदास जि० मुजफ्फरपुर (बिहार) के पदमौल ग्राम के निवासी थे। मुजफ्फरपुर शहर से लगभग दस मील दक्षिण की ओर पूर्वोत्तर रेलवे के गोरौल स्टेशन से दो मील पूर्व स्थित है। बचपन में ही माता-पिता की स्नेहछाया से वे वंचित हो गये थे और कुछ समय बाद शीतला के कारण उनके नेत्रों की ज्योति भी जाती रही। गाँव वालों के साथ जगन्नाथ जी की यात्रा करते समय मार्ग में इन्हें 'सुदामाचरित' रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई और बड़ी तन्मयता से इन्होंने उसके ३६१ छप्पयों की रचना की।

उक्त ग्रंथ के सम्पादक डॉ० सियाराम जी ने भी बड़ी तन्मयता और लगन से कार्य किया है, यह इसी से ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने इस ग्रंथ की ३७-३८ प्रतियाँ ढूँढ़ निकालीं। इसमें यद्यपि ५-६ मुद्रित प्रतियाँ भी सम्मिलित हैं, किन्तु अत्यधिक प्राचीन होने के कारण वे ह० लि० प्रतियो के समान ही दुष्प्राप्य हैं भारतीय पाठालोचन तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के निष्णात विद्वान् प० [illegible] प्रसाद मिश्र से मार्गनिर्देश प्राप्त होने के कारण

प्रस्तुत रचना का पाठ पर्याप्त संतोषजनक रूप में सम्पादित हो सका है। इस दृष्टि से सम्पादक की सफलता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि कतिपय ऐसे स्थलों का पाठ-सुधार (एमेंडेशन) करने में भी वह समर्थ हो सका है, जहाँ सभी प्रतियाँ विषयानुसंगति की दृष्टि से विकृत पाठ प्रदान करती हैं।

कृति की समस्त उपलब्ध प्रतियों में से चार का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत सम्पादक द्वारा किया गया है और उनमें भी चै० प्रति (चैतन्य पुस्तकालय, गायघाट, पटना मे सुरक्षित) को प्रमुखता प्रदान की गई है, शेष तीन प्रतियों के पाठभेद नीचे दिये गये हैं। चै० प्रति लिपिकाल की दृष्टि से प्राचीनतम है और उसका पाठ भी अपेक्षाकृत अधिक संतोष-जनक जान पड़ता है, अतः उसे महत्व देना उचित ही प्रतीत होता है। किन्तु प्रतियो का शाखा-निर्धारण केवल रचनाकाल सूचक अंतिम छंद पर आधारित होने के कारण किंचित् भ्रमात्मक हो गया है। इसीलिए सम्पादक को कहीं-कहीं परस्पर विरोधी कथन का शिकार होना पड़ा है, जैसे—"नृत्यलाल शील प्रेस वाली प्रति भिन्न शाखा की होने के बावजूद क्षीरोदसागर प्रेस वाली प्रति से साढ़े निन्नानबे प्रतिशत साम्य रखती है। क्षीरोदसागर प्रेस वाली में ७१ वें छन्द का चतुर्थ चरण लुप्त है तो नृत्यलाल शील प्रेस वाली प्रति में भी वह चरण नहीं है। दोनों के पाठों को देखने पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि ये दोनों किसी एक ही मूल के अनुमुद्रण है।" (भू० पृ० २१) कहने की आवश्यकता नहीं कि 'साढ़े निन्नानबे प्रतिशत साम्य' रखने वाली प्रतियों को विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध मानना युक्ति-सगत नहीं है। प्रमुख आधारभूत प्रतियों में केवल एक ह० लि० प्रति है, शेष तीनों उसकी मुद्रित प्रतियाँ ही हैं। कुछ और ह० लि० प्रतियों के पाठ-मिलान की आवश्यकता भी (कम से कम कुछ स्थलों के सम्बन्ध में) प्रतीत होती है। आगे जिन पाठ-पाठांतरों का विवेचन किया जा रहा है उनसे उपर्युक्त कथन का औचित्य देखा जा सकता है।

१—छंद ७६·१ : 'जिन्हें क्रुश्न को सरन सुभ जिन्ह कृष्ण मनायो।' 'सुभ' के स्थान पर क्षी० नृ० ख० का 'सुलभ' पाठ अधिक अर्थानुसंगत ज्ञात होता है। अनवधानतावश चै० का अनुलिपिकार 'सु' तथा 'भ' के बीच 'ल' लिखना भूल गया था, इसीलिए मात्राभंगदोष सहित यह विकृत पाठ उसमें आ गया। सम्पादक के विवेक का परिचय उसे अस्वीकार करने से ही मिलता।

२—छंद ७७·२ : 'सिवकुमार किमि गज भया न मुख एक रदन हैं।' वस्तुतः 'भया' तथा 'न' इन दोनों को पृथक् नहीं, प्रत्युत सम्पृक्त रखना चाहिए। भयान मुख = भयानक मुख।

३—छंद ११४·१ : 'हौं देखौं मैं एक उपाय जो नृपति करत हैं।' इस पाठ में 'हौं' तथा 'मैं' में पुनरुक्तिदोष है। इसकी तुलना में क्षी० नृ० ख० का पाठ अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है—हौं देखौं उपचार एक जो नृपति करत हैं। इसी छंद की दूसरी पंक्ति में स्वीकृत पाठ 'परत' की अपेक्षा उपर्युक्त तीनों प्रतियों का 'धरत' पाठ भी अधिक उपयुक्त है, जिसे सम्पादक ने अस्वीकृत किया है।

४—छंद १८४·१ अब जौ दीन कोठ भंगै बाहुरी मोहि खवावै कृष्ण के व्यवहार

के प्रति यहाँ सत्यभामा की प्रगल्भ व्यंग्योक्ति का प्रसंग है अतः 'छूँटी बाहुरी' के स्थान पर 'अनछूँटी बाहुरी' का ही उल्लेख अधिक फबेगा जो क्षी० नृ० ख० प्रतियों के पाठ में है; यथा —अब कोऊ अनछूटी बाहुरी मोहि खवावे। सुदामा 'अनछूटी बाहुरी' लेकर ही घर से चले थे, इसका कवि ने अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। यहाँ तक कि प्रस्तुत छंद के पूर्ववर्ती दोनों छंदों में स्वतः सत्यभामा कहती हैं : तिन्है न क्यों अनछटो बाहुरी सुरस जनावै (१८३'४) तथा : 'भली भई अनछूटी बाहुरी सखी पठाई।' तभी तो दीन सुदामा मन ही मन डरते रहते हैं कि 'विधि न करैं एक बाहुरी जौ अटकै कोमल गले। तौ विपत्ति मो सिर परैं जाहि दरस कीन्हें भले !'

५—छंद ३२५'५ : 'अब नाहक रे मूढ़ मन भर जस मोह कलेस को।' अर्थसंगति की दृष्टि से ख० का 'सहसि समूह कलेस को' पाठ श्रेष्ठ प्रतीत होता है।

६—छंद ३५६ की प्रथम पंक्ति का पाठ भी कुछ सन्देहास्पद प्रतीत होता है। प्रस्तुत संस्करण में उसका स्वीकृत पाठ है : 'तुमै मु:ास लसी मनोजई आगै लजनावै।' इसके विभिन्न पाठांतर इस प्रकार दिये गये हैं; क्षी०'तुमहिमदाशिलसीमनोजईगैलजनावै'; नृ०'तुमहिसदाशिलसी मनोजइगैमजनावै'; ख० 'तुमहिंमंदा सीलसी मनोजई गैल जनावै।' हमारे विचार से इसका उपयुक्त पाठ होना चाहिए : तुमहिं मदासी लसी मनोजई गैल जनावै। सुदामा की यह उक्ति उस प्रसंग की है जबकि वे कृष्ण के यहाँ से लौटकर अपने निवासस्थान पर आते हैं। किन्तु मित्र की कृपा से उनकी जीर्ण कुटिया द्वारिकापुरी की अट्टालिका के सदृश हो गई है, यहाँ तक कि उनकी ब्राह्मणी का भी कायाकल्प हो चुका है। पति को देखकर वह स्वागत के लिए लालायित होती है, किन्तु विप्र को यह विश्वास ही नहीं होता कि स्वागत के लिए आतुर यह सुन्दरी उनकी पत्नी हो सकती है। हलधरदास ने इस विडम्बनापूर्ण स्थिति का कौशलपूर्ण चित्रण किया है। सुदामा झल्लाकर कहते है, 'तुम पर यौवन की मदमस्ती छाई हुई है, इसलिए गली-गली में तुम्हें कामदेव ही दिखलाई पड़ रहे हैं !' पदविच्छेद की भ्रांति के कारण 'आगै लजनावै' पाठ हो गया है, जो प्रसंगसम्मत अर्थ प्रदान करने में असमर्थ है। कहने की आवश्यकता नहीं .क ख० प्रति के पाठ का यदि समुचित विच्छेद कर दिया जाय तो वह मूलरूप में ग्राह्य हो सकता है।

७—इसी प्रकार चै० प्रति के कुछ त्रुटित अंशों की पूर्ति भी अन्य प्रतियों की सहायता से की जा सकती थी; यथा : छंद १४९'१ : 'बट (   ) विटप के तले।' यहाँ तो चै० में ही 'बट' के स्थान पर 'बटक' पाठ था जो अधिक उपयुक्त था, किन्तु सम्पादक ने पता नहीं क्यों उसे नीचे टिप्पणी में रखा है। छंद ३३९'२ : 'मुनि जान तिय अवर (   ) मोदक पियूष बस।' शेष तीनों प्रतियों में 'मोद मोदक' पाठ मिलता है और वह स्वीकार्य भी प्रतीत होता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य स्थल भी हैं जहाँ स्वीकृत पाठ के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता ., किन्तु विस्तार भय से यहाँ सभी का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

शब्दार्थ सम्बन्धी टिप्पणियों में भी कुछ के सम्बन्ध में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का मतभेद है। संक्षेप में उसकी चर्चा यहाँ की जा रही है—

१—पृ० ११७ छन्द ८ मडे हैं मारे हैं बध किया है वस्तुत होना चाहिए

मंडित किया है, रचाया है। रन मंडे हैं=युद्ध रचाया है या ठाना है। तुलनीय कबीर-ग्रंथावली (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) साखी १४'१० : कबीर सोई सूरिवां, मन सौं माड़ै जूझ। (पृ० १८०)

२—पृ० ११९ छन्द १६ : अज=विष्णु, सिव=एक प्रकार का मृग। वस्तुतः 'अज' और 'सिव' यहाँ क्रमशः ब्रह्मा तथा शिव के ही बोधक हैं। विवेच्य छन्द में कृष्ण के चरण को प्रयाग बताते हुए कहा गया है—

अज मनु बारिद वृन्दं मोर मनु सुर नाचे हैं।
सिव मन मृगमद नाम कोस कबिगन साँचे हैं॥

अर्थात् ब्रह्मा बादल के सदृश हैं, जिनकी उमड़-घुमड़ पर देवता मयूर की भाँति नृत्य करते हैं। शिव कस्तूरी के समान हैं, जिनके नामकोश का संचय कविगण करते हैं। सम्पादक ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"मृग कस्तूरी अर्थात् सुगंध का नाम जपता है, कवियों ने सत्य ही कहा है।"

३—पृ० ११९ छन्द ९७ : बिगंध=विशेषता रहित। किंतु 'बिगंध' वस्तुत दुर्गन्ध-युक्त मल है और इसी अर्थ में वह अन्य मध्यकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणतया देखिए क०ग्रं (प्रयाग विश्व०) साखी २७.३ : माखी चन्दन परिहरै जह बिगंध तहँ जाइ।

४—पृ० ११९ छन्द २४ : नलनी=नदी। किन्तु 'नलनी' या 'ललनी' तोतों को फँसाने की नलिका है, जिसका उल्लेख अन्य मध्यकालीन कवियों ने अनेक स्थलों पर किया है, जैसे—सूरदास नलनी को सुवटा तोहि कौने जकर्‌यौ। हलधरदास ने भी इसी अभिप्राय का उल्लेख किया है—जौ बिपत्ति नलनी बझ्यौ दोउ मूरति के सुक्क चित।

५—पृ० वही, छन्द २५ : कनिक=थोड़ा। किन्तु 'कनिक' वस्तुतः कण अर्थात् अन्नकण है। यहाँ सुदामा की 'कनिक भिच्छा' अर्थात् अन्नकणों की भिक्षा का उल्लेख है। थोड़ा के लिए 'तनिक' शब्द है, न कि 'कनिक'। भूमिका (पृ० ४४) में सम्पादक ने इसे मैथिल का विशिष्ट शब्द बतलाया है किन्तु यदि किसी मैथिली कवि की रचना से उसकी पुष्टि मे कोई उद्धरण दिया होता तो वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती।

६—पृ०१२० छन्द २३=राचे हैं=बनाया है। किन्तु यहाँ वह अनुरक्त होने अथवा किसी विशिष्ट रंग में रंग जाने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जिस अर्थ में अन्य कवियों ने भी उसे प्रयुक्त किया है। जैसे तुलसी—मन जाहि राच्यो मिलहि सो वर (मानस, बालकाण्ड)।

७—पृ० १२१ छन्द ४५ : उपल गोहने=गोइठा ठोकने के लिए। यहाँ 'उपल' न तो उपली का बोधक है और न 'गोहने' गोइठा का। गोह। या 'गोहने' पूर्वी बोलियों का विशिष्ट शब्द है जिसका अर्थ है 'सत्य' या 'सन्निकट'। छाया की तरह पीछे-पीछे लगे रहने वाले व्यक्ति को अवधी, भोजपुरी आदि में 'गोहन लगुवा' कहते हैं। इसी अर्थ में यह अन्य मध्यकालीन कवियो द्वारा भी प्रयुक्त हुआ है। तुलना के लिए देखिए पदमावत १८३.९ : 'चलहु देव मढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह। तथा १८५.१ : छतीस कुरी भै गोहने भली। तथा क० ग्रं० पद १०९,१ में सासुरे पिय गौहनि आई 'चिंतामन मनि आकिके उपल गोहने धाइए' से हलधरदास का

तात्पर्य है कि चिन्तामणि छोड़ कर साधारण पत्थर के पास दौड़ना व्यर्थ है। इसी प्रकार की भ्रान्ति छन्द ३३१ में भी है, जहाँ सम्पादक ने 'गोहने' शब्द का अर्थ 'खोजने' दिया है, किन्तु वहाँ इसका प्रकृत अर्थ (पास) और भी अधिक स्पष्ट है—उस देश्राल के गोहने कब न दीन जन आइहैं।

८—पृ० १२५ छन्द ७९ : तार युक्ति, उपाय। सम्पादक ने इसका अर्थ किया है : 'मैं तो कोई नहीं जानता, तुम जानती हो। तुमने किस उपाय से जान लिया।'' किन्तु 'तार लिय' वस्तुतः संयुक्त क्रिया जान पड़ती है जिसका अर्थ होगा—'तार लिया'। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ होगा ''हम तो किसी को नहीं जानते, तुम जानती हो, किसको उन्होंने तार लिया।'

९—पृ० १२७, छन्द ९० : साँठि के = सजा कर। किन्तु 'साँठि' वस्तुतः पूँजी या सम्बल का बोधक हैं। उदाहरण के लिए देखिए पद्मावत ७४.९ : बाँभन इयाँ लेइ का, गाँठि साँठि सुठि थोर।' तथा वही १२८.४ : सांठि बिना रहब मुखि माँटी। अतः ''कहो कौन से देस साँठि कै मिले बिभीसन।'' हलधरदास का तात्पर्य है : बताओ सही, किस संदेश (उपहार) का सम्बल कर (लेकर) विभीषण राम से मिले ?''

१०—पृ० १३३ छन्द २०४ : नलिन -- नदी। किन्तु 'नलिन'' वस्तुतः कमल है। 'रंक प्रेम फहही निरखि नलिन नीर सम डगमगे' में 'नलिन नीर' से कवि का तात्पर्य कमल पत्र पर पड़े हुए जलबिन्दु से है, जो अस्थिर होता है।

किन्तु मध्यकालीन कृतियों के सम्पादन में कुछ शब्दों के अर्थ आदि के सम्बन्ध में मत-भेद की कुछ गुंजाइश रहती ही है। वैसे सियाराम तिवारी ने हलधरदास की मातृभाषा 'वज्जिका' के विशिष्ट शब्दों के जो अर्थ दिये हैं उनसे उनकी गहरी भूझ बूझ का पता चलता है। उदाहरणतया 'बिजै कराना' = भोजन करने से लिए निवेदन करना (छन्द १९७) 'दन' = सदृश < ऐसन (२०) इत्यादि। 'संदेस' शब्द इस रचना में अनेक बार आया है और सर्वत्र वह वज्जिका के विशिष्ट प्रयोग के रूप में—उपहार स्वरूप दिया जाने वाला मिष्ठान्न के अर्थ में—मिलता है, जैसे : 'कत संदेश मोदक लए तिन्हैं जात विपदा भई। बंगला 'संदेश' (एक मिठाई की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि कदाचित वह अंग्रेजी के 'सैडंस Sandys से व्युत्पन्न होगा। किन्तु प्रस्तुत रचना से यह जान पड़ता है कि विहार, बंगाल की ओर हलधरदास के समय से ही, अर्थात् अंग्रेजों के आगमन से बहुत पूर्व उपहारस्वरूप दी जाने वाली खाद्यवस्तु को 'संदेश कहा जाता था। इस प्रकार की उपहार सामाग्री में मिठाई की ही प्रधानता रही, अतः 'संदेश' एक विशिष्ट मिष्ठान्न का बोधक हो गया।

किन्तु वज्जिका शब्दावली की व्याप्ति के सम्बन्ध में सम्पादक ने कुछ अतिरिक्त उत्साह दिखलाया है। उदाहरणतया 'सुरुकना' (छन्द ८६) 'दोउ मूरत ' (= दो व्यक्ति' छन्द १४८), 'कमरधोंधी' (वर्षा आदि से बचाव के लिक सिर पर कम्बल आदि को विशिष्ट ढंग से ओढ़ना, छन्द १८४), 'बीज करना' (= कमी करना, छन्द २६१), 'उदबास' (= तग करना, छन्द २९०) आदि को उन्होंने वज्जिका की विशिष्ट शब्दावली बतलाया है, किन्तु ये सभी शब्द या मुहावरे अवधी भोजपुरी आदि में भी प्रचलित हैं जैसे बीच के लिए दो०

कबीर-ग्रंथावली (परिषद संस्करण) पद १९.३ : 'हम तुम बीच भयो नहिं कोई' तथा तुलसी, मानस : 'सुख प्रद उभय बीच कछु बरना'। बीच - भेद, अंतर, या कमी। 'उदबास' के लिए, द्रष्टव्य मानस, बालकाण्ड : उदबस अवध नरेस बिनु देस दुखी नर नारि।

भूमिका में हलधरदास के जीवन, काव्य-सौष्ठव के अतिरिक्त सम्पादक ने सुदामा-चरित काव्य-परम्परा सम्बन्धी उपयोगी सामग्री दी है, जिसमें इस आख्यान पर काव्यरचना करने वाले ४७ कवियों का परिचय दिया है (किन्तु इस सूची में ग्यारहवीं संख्या पर उल्लिखित भूधरदास हलधरदास से अभिन्न ज्ञात होते हैं)। कालक्रमानुसार सम्पादक ने हलधरदास को इस परम्परा में सर्वप्रथम स्थान दिया है। नरोत्तमदास कृत 'सुदामाचरित' का रचनाकाल आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सं० १५८२ वि० माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ने भूमिका में तथा अन्यत्र अपने शोध ग्रन्थ 'हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य (पृ० १६१) में डॉ० ग्रियर्सन के साक्ष्य के आधार पर नरोत्तमदास कृत सु० च० का रचनाकाल सं० १६३० के पश्चात् माना है और हलधरदास कृत सु० च० के अन्तिम दोहे में उल्लिखित 'ब्रह्म सहस रस बेबिसत' को संवत् १६२२ वि० सिद्ध किया है। 'बेबिसत' को उन्होंने सं० द्वाविंशति से व्युत्पन्न माना है, किन्तु 'बिबि' अथवा 'बेबि' शब्द का प्रयोग प्रायः दो के ही अर्थ में मिलता है (दो० सु० च० छंद.१८५ : क्यों न होहि आधीन हम जेहि अधीन बिब चद्रंधर) अतः 'बेबिसत' का अर्थ 'दो सौ' करना अधिक प्रयोगसम्मत ज्ञात होता है। इस प्रकार 'ब्रह्म सहस रस बेबिसत' सं० १८०० वि० का बोधक भी सिद्ध किया जा सकता है। कठिनाई केवल चै० प्रति के लि० का० सं० १६०२ से पैदा हो सकती है, किंतु उसके शक सवत् होने की कल्पना स्वतः सम्पादक को भी करनी पड़ी है। अतः पुनः उसके वैज्ञानिक परीक्षण की अवश्यकता प्रतीत होती है। दूसरी ओर, नरोत्तमदास के सु० च० को परवर्ती सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वे पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं ज्ञात होते। सवैया कवित्त के प्रचलन की दृष्टि से सं० १५८२ में नरोत्तमदास का अविर्भाव मानना संगत नहीं है। डॉ० ग्रियर्सन का यह तर्क मान लेने पर भी उनके द्वारा दिये हुए नरोत्तमदास के जन्म संवत् (१६१० वि०) का कोई आधार नहीं जान पड़ता। 'शिवसिंह सरोज' में नरोत्तमदास को स० १६०२ में 'उ०' (अर्थात् उपस्थिति काल या रचना काल) माना गया है। 'सरोज सर्वेक्षण' में डॉ० किशोरीलाल गुप्त ने भी उसे नरोत्तमदास का जन्म संवत् मान लिया है, जो चिन्त्य है। वस्तुतः इस समस्या पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस संबंध में एक अन्य बात की ओर लक्ष्य कर देना अनावश्यक न होगा। उपर्युक्त दोनों सुदामाचरित्रों में द्वारिकापुरी जाते समय सुदमा को गोमती नदी पार करनी पड़ती है। किंतु श्रीमद्भागवत आदि में इस प्रसंग मे गोमती अथवा किसी अन्य नदी का उल्लेख नहीं मिलता। नरोत्तमदास बाड़ी (ज० सीतापुर) के निवासी थे अतः उनके लिए निकटस्थ गोमती नदी का उल्लेख कर देना स्वाभाविक लगता है (मानस में तापस प्रसंग की भांति)। संभव है, उन्हीं के अनुकरण पर हलधरदास ने भी अपने सु० च० में गोमती का उल्लेख कर दिया हो। दोनों के कालनिर्णय के प्रसंगों मे इस समस्या पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

समय की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों कवियों में जो भी पहले का रहा हो साहित्यिक दृष्टि

से दोनों में उत्कृष्ठ कोटि की प्रतिभा है—को बड़ छोट कहत अपराधू।' नरोत्तमदास की प्रसादगुणयुक्त भाषा से अधिकांश लोग परिचित हैं, फिर भी उनका एक छन्द उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। अपनी झोपड़ी को महल में परिवर्तित देख कर नरोत्तमदास के सुदामा अपनी टूटी-फूटी गृहस्थी के लिए बिसूरते हैं—

फूटी एक थारी बिन टोटनी की भारी हुती,
बांस को पिटारी श्रौ कंथारी हुती टाट की।
बेटे बिन छुरी श्रौ कमंडल सौ टूक वह्यौ,
फटे हुवे पनौ पाटी टूट एक खाट की।
पथरौटा काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहि,
पीतल को लोटो हो कटोरो हो न बाट की।
कामरी फटी सी हुती डोड़न की माला ताक,
गोमती की माटी न सुद्ध कहूँ माट की॥

हलधरदास के सुदामा इसी स्थिति में चिंतित हैं अपनी ब्राह्मणी के लिए—

पानिग्रहन जब तें हो राम तब ते न जुदाई।
एक सुभाव तें जुगल आतमा जन्म गँवाई॥
अंत समौ यह कौन दोस लाय्यौ हो सांई।
जासु जिवन एक ठौर तासु मरनो बिलगाई॥
अब नाहक रे मूढ़ मन भर जस मोह कलेस को।
अब कैसेहु यह ताल सें चलै हंस निज देस को॥ ३२५॥

दोनों भावस्थितियों के पक्ष अथवा विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि कृष्ण-सुदामा मैत्री की पावन मन्दाकिनी में दोनों कवियो ने तन्मयता पूर्वक अवगाहन कर अपना तथा हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाया।

हलधरदास बहुपठित अथवा बहुश्रुत जान पड़ते हैं, यह इनकी रचना के प्रसंग-गर्भत्व से स्वतः सिद्ध है। इस लघु खण्ड-काव्य में तीन सौ से अधिक पौराणिक आख्यानों के संदर्भ समाविष्ट हैं। सम्पूर्ण काव्य पाण्डित्यपूर्ण शब्द स्थापन-कौशल तथा भावाभिव्यक्ति की सरस रस माधुरी से पूर्ण है। सियाराम तिवारी ने ऐसे उत्कृष्ट खण्ड काव्य का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन कर हिन्दी का गौरव बढ़ाया है, अतः वे साधुवाद के पात्र हैं।

मुद्रण तथा साज-सज्जा आदि की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ सुन्दर है, किन्तु भारती भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थों की आकर्षक रूपसज्जा देखते हुए जान पड़ता है कि कदाचित् सुदामा से सम्बद्ध होने के कारण प्रकाशक ने इसकी हीनता को कुछ अंश तक सुरक्षित रखना आवश्यक समझा हो। सुदामा तो मोहन की कृपादृष्टि पाकर धन्य हो गये थे, किन्तु 'सुदामा चरित्र' पर 'मोहित' मोहन (बोस) की कृपादृष्टि 'आजु कालि के दानि' की भाँति ही रह गई।

—डॉ० पारस नाथ तिवारी

राजस्थानी के प्रेमाख्यान
डॉ० रामगोपाल गोयल
का शोध ग्रन्थ

प्रकाशक : राजस्थानप्रकाशन,
त्रिपोलिया बाजार
संस्करण : प्रथम, १९६९
मूल्य : तीस रुपये

प्रस्तुत शोध ग्रन्थमें कुल ९ अध्याय हैं, जिनमें विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रेमाख्यान की जो परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई भारतीय भाषाओं में विकसित हुई, राजस्थानी के प्रेमाख्यान उसी परम्परा की कड़ी है। वस्तुत., वैदिक युग से लेकर आधुनिक समय तक विभिन्न प्रेमाख्यानों में एक ही विशिष्ट भाव-धारा प्रवाहित हुई है, और वह है भारतीय संस्कृति की। इस दृष्टि से, इनमें विशेष भाषाओं मे लिखे गये ग्रन्थों में रुचि-विभिन्नता, स्थानीय विशेषता तथा रचयिता की मौलिक कल्पना के कारण जो विशिष्टता तथा भिन्नता दिखाई देती है, वह निस्सन्देह अध्ययन- अनुशीलन का विषय है

शोधकर्त्ता ने संवत् १४०० से संवत १९०० तक की अवधि में रचित लगभग ११५ प्रेमाख्यान ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है ४१ अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज। इनका उल्लेख हिन्दी साहित्य अथवा राजस्थानी साहित्य के इतिहास में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अनुसन्धाता ने अपने शोध-प्रबन्ध में प्रथम बार उनका आकलन कर अपने शोधकार्य को सार्थक किया है।

साहित्यिक अनुसन्धानों में मात्र तथ्य-संग्रह ही अनुसन्धाता का उद्देश्य नही होता वरन् नवीन तथ्यों कों जीवन्त अनुभूतियों के साथ जोड़ देना उसका साहित्यिक धर्म बन जाता है। नवीन तथ्यों की खोज अपने में बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु उससे भी महत्वपूर्ण है ऐतिह्य परिप्रेक्ष्य में उन तथ्यों की व्याख्या। उक्त ग्रन्थ के द्वितीय तथा चतुर्थ अध्याय में नवोपलब्ध तथ्यों का साधारण आख्यान ही हो पाया है। वे मूलवर्ती तथा अतलस्पर्शी नहीं बन पाये शोधक को तथ्यों को जुटाने के श्रम का श्रेय तो दिया जा सकता है, परन्तु अन्तर्द्रष्टा या विचारक का नहीं। शोधक में मौलिक चिन्तन की प्रतिभा तो विद्यमान है। इस ग्रन्थ का तृतीय अध्याय मेरी मान्यता की पुष्टि करता है। किन्तु शायद उपाधियों के लिए लिखे जाने वाले शोध ग्रन्थों में निर्धारित समय के बन्धन के कारण शोधकर्ता को चिन्तन-मनन का यथेष्ट समय नहीं मिल पाता। यही कारण है कि वह अपनी पूर्ण प्रतिभा का परिचय देने में अपने आपको वह असमर्थ पाता है।

तृतीय अध्याय को मैं शोधकर्ता की चरम सिद्धि मानता हूँ। इसमें लोक साहित्य के पाश्चात्य विद्वान थामसन की प्रणाली पर प्रेमाख्यानों की अभिप्राय अनुक्रमणिका तैयार की गई है, जिसमें तत्कालीन संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। २४० वें पृष्ठ पर द्रष्टव्य है

"राजस्थानी प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त अभिप्रायों की इस सारांश-तालिका के अवलोकन से पता चलता है कि इन प्रेमाख्यानों में सबसे अधिक जादुई अभिप्रायों का प्रयोग हुआ है। इसके बाद यौन सम्बन्धी अभिप्राय आते हैं। अतः इस सारांश तालिका के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन मानव-समाज जादू-टोनों तथा चमत्कारों में अधिक विश्वास करता था·········।"

कुछ विशेष अभिप्रायों का परम्परागत क्रमिक विकास बताते हुए विश्व की लोक-कथाओं के संदर्भ में उसकी स्थिति का अध्ययन बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। वस्तु-परक दृष्टिकोण अपनाकर अभिप्रायों की व्याख्या में बहुत संयम से काम लिया गया है। यहाँ लेखक ने अपने प्रति ईमानदारी तथा संतुलन का परिचय दिया है, जो निश्चय ही स्तुत्य है।

नवम अध्याय इस ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय है, जिसमें शोधक ने प्रेमाख्यानों की सामान्य विशेषताओं का लेखा-जोखा ही प्रस्तुत किया है। "भावगत एवं कलागत कुछ ऐसी सामान्य प्रवृतियों के कारण इन प्रेमाख्यानों में विविधता में भी एकता पायी जाती है," इस वाक्य से इसकी समाप्ति होती है। यदि शोधकार्य सामान्य आलोचना का विशिष्ट रूप हैं, तो उसमें तथ्यों के साथ-साथ तत्व-निरूपण भी होना चाहिए। इस दृष्टि से इस अध्याय में यह अभाव थोड़ा खटकता है।

अन्त में, मैं निरसंकोच भाव से कह सकती हूँ कि इस ग्रन्थ का राजस्थानी साहित्य मे महत्वपूर्ण योगदान है। शोधक ने बहुत परिश्रम एवं संलग्नता से शोध-सामग्री जुटाकर विषय का सुष्ठु प्रतिपादन किया है।

—कान्ता मारवा

राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृतियाँ
नरेन्द्र भानावत की
आलोचना कृति

प्रकाशक : रोशन लाल एंड संस
जयपुर
संस्करण : प्रथम, १९६५
मूल्य : ६ रुपया

दृष्टि ने धारणाओं को भी क्रमशः परिवर्तित किया है। इस नाते हिन्दी का ऐतिह्य पक्ष अब केवल आदि इतिहास ग्रन्थों के सहारे सही रूप में नहीं पहचाना जा सकता। उचित तर्क-सगति उसे नये शोध-कार्यो के सन्दर्भ में ही दी जा सकती है। पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश मालवा, गुजरात और दक्षिणवर्ती प्रदेशों से कई नये सूत्रों क्रमशः मिलते गये हैं। राजस्थान का इस सम्बन्ध में कम महत्व नहीं है। डिंगल की लुप्त सामग्री तथा उपासरो में दबे कई जैन ग्रन्थों से राजस्थानी साहित्य का रूप अधिक निखरा है। यह क्रम अभी समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि अभी भी ऐसे ग्रन्थ राजस्थान या गुजरात में दबे हो सकते हैं जो साहित्यपरक सूत्रो को सुलझाने में सहायक हो सकते हैं।

'राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ' डॉ० नरेन्द्र भानावत के दस निबन्धो का छोटा संग्रह है। प्रत्येक निबन्ध अपने आप में स्वतन्त्र है। विषय की दृष्टि से इन निबन्धों में परस्पर सम्बन्ध केवल इस स्तर पर है कि इनमें शोध सामग्री और अनुसंधित्सु दृष्टि है।

संग्रह का पहला निबन्ध 'राजस्थानी गद्य की विशिष्ट शैलियाँ' (मार्च, १९६४) तिथि-क्रम से नया है और आठ वर्ष पुराने डॉ० भानावत के निबन्ध 'डॉ० एल० पी० तेस्सितोरि व्यक्तित्व और कृतित्व' की तुलना में अधिक संयत और परिश्रमसाध्य है। राजस्थानी गद्य की प्रथम कृति, लेखक के अनुसार, सं० १३३० में रचित 'आराधना' है। यह एक स्फुट टिप्पणी है। लेखक का कथन है कि राजस्थानी गद्य में व्यक्तिगत शैली नहीं मिलती। लगता है, यह सतही ख़याल मात्र है, क्योंकि चाहे कितनी ही बंधी बंधाई शैली क्यों न हो, व्यक्तित्व को उसमें से काट कर नहीं रखा जा सकता। बिना व्यक्तित्व के तो समूचा लेखन कला न होकर केवल सायास शिल्प ही होगा। डॉ० भानावत ने कदाचित् वर्गीकरण की सुविधा के लिए यह बात कही है। क्योंकि राजस्थानी गद्य-शैली को उन्होंने स्थूल रूप से जातिगत या समूहगत शैली के रूप में लिया, जैसे चारण शैली या जैन शैली। रचयिताओं की दृष्टि से अध्ययन मे जटिलता और विस्तार भय सम्भवतः उनके समक्ष रहा हैं। लेखक ने राजस्थानी के मौलिक गद्य को धार्मिक, ऐतिहासिक, कलात्मक और अन्य रचनाओं के सन्दर्भ में विभाजित किया है। यह विभाजन विषय परक है, और स्पष्टतः परिचय की दृष्टि से किया गया है। इस लेखक में, वस्तुतः अनेक ऐसे ग्रन्थों की सूचना उपलब्ध है जो भाषा के विविध पक्ष और उसके विकास का मूल्यांकन करने के लिए काफी समय तक लुप्त रहे। स्पष्ट है कि ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनकी भाषा पर वर्षों तक अपभ्रंश का प्रभाव बना रहा। ऐतिहासिक गद्य के अन्तर्गत ऐसे ही ग्रन्थ आते हैं। इनमें मध्ययुगीन राजस्थान की अंतरंग झाँकी मिलती है। इन्ही में रचयिताओं की निजी शैली भी देखी जा सकती है। ऐतिहासिक गद्य के इस रूप को 'ख्यात' कहा गया है। दूसरी कोटि का गद्य 'कलात्मक गद्य' है। शिल्प की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। इसमें आठ-आठ या बीस-बीस मात्राओं के तुकयुक्त गद्यखंड और अनुप्रासात्मकता का वैशिष्ट्य लक्ष्य किया जाता है। इसी में गद्य-काव्य का अनुरंजन हुआ। 'वचनिका' के साथ इस स्तर का एक और गद्य रूप 'दवावैत' है। यह पद्यपरक रूप फ़ारसी के 'बैत' से राजस्थानी मे आया दवावैत सज्ञक रचनाएँ जैन और चारण दोनो शैलियो में हैं तीसरा रूप

सिलोका' कहा गया है, जो वास्तव में संस्कृत 'श्लोक' का रूपान्तर है। अन्य रूप विषयानुसार और विविधामूलक हैं।

संग्रह का दूसरा निबन्ध 'राजस्थानी बात साहित्य : एक पर्यालोचन' लोककथात्मक सामग्री की व्याख्या करता हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने इस संकलन की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि 'इसमें लेखक ने अप्रत्यक्षरूपेण लोक-कहानी के ही निर्माण की तकनीक का उद्घाटन किया है, जो न केवल राजस्थानी बात साहित्य की तकनीक है, वरन् लोक-कहानी मात्र की है।'

'बेलि' विषयक तीनों लेख इस संग्रह में एक दूसरे के पूरक हैं। ये तीनों ही डॉ० नरेन्द्र भानावत के प्रबन्ध की आधारभित्ति हैं। इसलिए संदेह नहीं कि इनका परिश्रम से लिखे जाने तक ही महत्व नहीं बल्कि अध्ययन और शोध की दृष्टि से भी ये अधिक उपादेय है। डॉ० भानावत के प्रबन्ध 'राजस्थानी बेलि साहित्य' के सन्दर्भ में ही इन पर विचार किया जा सकता है।

'डिंगल में वीर और श्रृङ्गार रस का अद्भुत मेल' लेख में राजस्थानी में प्राप्त डिंगल के पद्य साहित्य पर सरसरी नजर डाली गयी है। सम्बन्धित ग्रन्थों से उपयुक्त उद्धरणों को उपलब्ध करने से लेख की व्यापकता बढ़ गयी है। 'वीर सतसई में नारी भावना' निबन्ध अध्यापकीय स्तर की रचना है। 'राजस्थानी लोकगीत' लेख साधारण है। भावनात्मक दृष्टि से लिखा गया यह लेख बहुत अपरिपक्व दृष्टि का परिचय देता है जबकि 'तैस्सितोरि' से सम्बन्धित लेख सूचनात्मक है, 'राजस्थान का नया रचनात्मक साहित्य' निबन्ध भी इसी कोटि में स्थान पाता है।

'राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ' संग्रह पढ़कर पहला प्रभाव लेखक की अध्ययनशीलता का पड़ता है। मगर आलोचना में तटस्थ तभी हुआ जा सकता है जब भावुकता और लगाव न हो। शोध का क्षेत्र साहित्य को मात्र भोजन देना ही नहीं है, न छात्रों के लिए उपयोगिता जुटाना है, बल्कि उसके माध्यम से एक विशेष दृष्टि का विस्तार करना है, जो आलोचना के मानदण्डों को तोड़े और शोध 'टैबूज' का खंडन करे। सामग्री के नाते यहाँ, डॉ० भानावत के इस संग्रह के सम्बन्ध में, डॉ० सत्येन्द्र की राय से सहमत हुआ जा सकता है कि "इस ग्रन्थ से हमें राजस्थानी साहित्य की लोक साहित्यिक पृष्ठ भूमि क भी ज्ञान होता है। क्योंकि राजस्थानी साहित्य को किसी स्तर पर भी लोक-साहित्य से परहेज नहीं।"

—डॉ० श्याम परमार

सेनापति कृत गुरु शोभा
डॉ० जयभगवान गोयल
द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : पंजाब विश्वविद्याल
पब्लिकेशन ब्यूर, चंडीगढ़
संस्करण : प्रथम
मूल्य : ५ रुपये ४० पैसे

'गुरु शोभा' गुरु गोबिंद सिंह जी के जीवन पर आधारित प्रथम एवं प्राचीनतम प्रबंध काव्य है। इसके रचयिता गुरु गोबिंद सिंह जी के आनन्दपुरीय दरबार के कवि सेनापति हैं। इस में कवि ने उनके जीवन चरित पर प्रकाश डाला है। उनके शौर्य, वीर्य सिन्धु रूप की शोभा का इस में स्तवन मिलता है जो अत्यन्त संयत रूप में किया गया है :

"गुर शोभा या ग्रंथ को धरो सुनाव विचार।
सुनत कहत गति होत है मन अनतनि उरीधारि॥" (१-५) (पृ० ७)

उनकी वाणी में एक श्रद्धालु का गाम्भीर्य दिखाई देता है। इसमें उनके यश का उतना ही गान किया गया है जितना उनके लिए आवश्यक था। कवि ने अपने चरित नायक को युद्धभूमि में निकट से देखा था। वे उनके युद्ध सहचर भी थे। वे उनके व्यक्तित्व के प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। गुरु गोबिंद सिंह के पहाड़ी राजाओं और मुग़लों के प्रति लड़े गए युद्धों का इसमें मोहक और सजीव वर्णन है। यह रचना यद्यपि गुरु गोबिंद सिंह रचित 'विचित्र नाटक' के आधार पर लिखी गई है परन्तु अपनी नवीनताओं के कारण अद्वितीय बन पड़ी है। शैली संबन्धी अनुकृति के होते हुए भी इसका ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से विशेष महत्व है।

इस काव्य की रचना संवत् १७५८ वि० में हुई। इसकी सूचना हमें निम्न पद्य से मिलती है :—

"संवत सत्रह से भये बरख अठावन बीत।
भादव सुद पंद्रस भई रची कथा कर प्रीत॥" (१-६) (पृ० ७)

इस प्रबन्ध काव्य के २० अध्यायों में से ९ में कवि ने अपने चरित नायक की युद्ध-कौशल में प्रवीणता का निरूपण किया है। वैसे ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण, गुरु वन्दना, कथा महिमा, आत्म परिचय, गुरु गोबिंद सिंह के अवतार और पूर्व जन्म की कथा तथा सिक्ख धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है और ग्रन्थ का अन्त भी कथा महिमा से होता है।

"मुखं एक रसना कहा लउ बखानो।
भरे नीर सुभर लई बूँद मानो।
महा कीट पतंं कहा बुधि मेरी।
क्या सकति है सोभ करतार तेरी (१८ ९३५ (पृ० १०९

इस ग्रन्थ का आरम्भ गुरु जी के पांवटे में फतेसाह के साथ हुए भंगाणी युद्ध से होता है (पृ० ११)। इससे पूर्व की घटनाओं का इसमें उल्लेख नहीं है। इसके पश्चात् नादौन यु हुसैनी युद्ध, कलहूर हड्र आदि के राजाओं से युद्ध, आनन्दपुर का युद्ध और उसे त्यागना, चमकौर युद्ध, वीर गुरु पुत्र का बलिदान, औरंगजेब को जफरनामा भेजना, दक्षिण की ओर प्रयाण, औरंगजेब की मृत्यु का समाचार, मथुरा, वृन्दावन, अजमेर, जोधपुर, चितौ: इत्यादि अनेक स्थान पर घूमते हुए अन्त में नादेड़ पहुँचने और वहाँ पर पठान के हाथों उनकी हत्या आदि घटनाओं का मार्मिक चित्रण इस काव्य में मिलता है। अनेक प्रसंगों का केवल इसमें संकेत ही किया गया है। कवि युद्ध वर्णन में ही अधिक तन्मय रहा है। गजग्राह, गणिक अनामिल आदि पौराणिक आख्यानों का संक्षिप्त संकेत है। गुरु जी के पारिवारिक जीवन-चित्रण की ओर भी कवि का ध्यान नहीं गया है। केवल गुरु गोबिंद सिंह के चरित्र पर ही विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है—

"जूझ फे साह संग्राम सुरगै गयो ससत्र संभारि प्रभ आप धायो।
गहे गुन बान घमसान को जान कै छुटिओ गंभीर इक तिह गिराओ।
बहुरि संभारि के बार ऐसा कीउ भीषनं खन के मुखं लायो।
बचिओ पठान पै खेत बाहन रहिओ अउर इक तीर ते ताहि घायो। (पृ० १४)
(४०-८१)

अन्य पात्र श्री जुझार सिंह की युद्ध निपुणता का एक चित्र भी अवलोकनीय है—

"कर मै गहे कमान तीर इह भांत चलावै।
जिह उर मारत धाइ जाति विध बिलम न लावै।
निकसै जाइ दुसार गिरै असवार अंत तहि।
छिन मैं तजे परान तीर लागंत जाइ जिह।
मारे पठान इह भांत कहि चहु ओर लोटैं परै।
नाहन सुमार ऐते अपार ऐसे जुझार तिन मै लरै।"(पृ०६१) (५७ ५२७)

यद्यपि इस वीर काव्य में प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण हुआ है तथापि तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशा का चित्रण नहीं के बराबर है। वास्तव मे इसका वीर काव्य के रूप में ही विशेष महत्व है। प्रबंध काव्य की दृष्टि से यदि देखा जाये तो इस में वैसी मार्मिकता, व्यापकता, और विशदता नहीं मिलती।

वीर रस का ही इस में ओजस्वी चित्रण मिलता है। टकार एवं संयुक्त वर्णों का इस में प्रयोग मिलता है। तत्कालीन रीतिकालीन कवियों का प्रभाव इन पर पड़ा प्रतीत होता है। इन्होंने भी वर्षा, फाग और रासलीला आदि रूपकों द्वारा युद्ध का मनमोहक रूप प्रस्तुत किया गया है। वीर-योद्धा के व्यक्तित्व को व्यक्त करने के लिए फाग के रूपक द्वारा युद्ध का चित्रण किया है, जैसे :—

(१) "तनभरी कर सूरमा, स्रोन रंग भरि लोन।
छिरक छिरक तन रमयो फागन की रुत कौन " पृ० ६८

ने इस काव्य की विशेषताओं आदि के विषय में अपने शोध प्रबन्ध 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य' में (पृ० ४९३-५०८) सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है जो इस सम्बन्ध में अवलोकनीय है।

—आशानन्द वोहरा

अणीराय कृत जंगनामा गुरु गोबिंदसिंह
डॉ० जयभगवान गोयल द्वारा संपादित

प्रकाशक : पंजाब यूनिवर्सिटी ब्यूरो चंडीगढ़
संस्करण : प्रथम
मूल्य : दो रुपये

'जंगनामा गुरुगोबिन्द सिंह' धर्मयोद्धा गुरु गोविन्द सिंह जी के जीवन पर आधारित वीर काव्य है। इसके रचयिता गुरु गोविन्द सिंह जी के आनन्दपुरयी दरबार के कवि अणीराय है। इनके इस 'वीर काव्य' से केवल इतना पता चलता है कि श्री अणीराय को गुरु गोविन्द सिंह ने नग, कंचन, भूषण और हुकमनामा देकर आदर किया था—

'अणीराइ गुरु से मिले दीनी ताहि असीस।
आउ कह्यो मुख आपने बहुर करी बखसीस। (१)
नग कंचन भूखन बहुर, दीने सतिगुर तेह।
नामा हुकम लिखाई कै, दीनो सरस सनेह।'' (२)

जंगनामा, पृ० १३।

इस छोटी-सी रचना में इन के जीवन के सम्बन्ध में कोई अन्य संकेत नहीं मिलता है। अंत:साक्ष्य से विदित होता है कि ये पंजाब के निवासी थे।

गुरु गोविन्द सिंह जी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए तत्कालीन पहाड़ी राजाओं और मुग़ल राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्ध किये थे। वे तो अकाल पुरुष से यही वर माँगते है कि—

''देह सिवा बर मोही इहै सुभ करमन ते कबहू न टरो।
न डरो अरि सो जब जाइ लरो निसचे कर अपनी जीत करो।
अरु सिख हौं आपने ही मन को इह लालच हउ गुन तउ उचरों।
जब आव की अउध निदान बने अत ही रण मैं तब जूझ मरो।''

धर्म-रक्षा एवं धर्म-संस्थापन के लिए ही उन्होंने युद्ध किये थे। उनके साहसिक जीवन की झलक इस जंगनामे में मिलती है। इस में ६९ छन्द हैं। इसकी कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है।

धर्मान्ध औरंगजेब के अत्याचारों से जब हिन्दू जनता अत्यन्त दुःखित थी तब अकाल-पुरुष के आदेश से गुरुगोविन्द सिंह धर्म-संस्थापनार्थ अवतरित हुए थे। उन्होंने अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित खालसा पंथ की स्थापना की। इस से डर कर पहाड़ी राजाओं ने बादशाह के पास अपना विनय पत्र भेजा कि आप अपने राज्य की रक्षा करें। इसी समय बादशाह के चाटुकार दरबारी अबदुल्ला ने भी गुरु जी के खालसा पंथ के विषय में उनके कान भरे और अन्य उमरावों द्वारा भी गुरुजी की निन्दा की जाने पर बादशाह ने अजीमखाँ को गुरु जी से युद्ध के लिए भेजा। इस की सेनाएँ जब सतलुज के समीप पहुँचीं तो वहाँ गुरु जी ने उनका डट कर मुकाबला किया। इस भयानक युद्ध में अनेक शूरवीरों ने अपनी वीरता का प्रदर्शन किया जिनमें से हिम्मतसिंह, दलेल सिंह, मुहकमसिंह, विचित्र सिंह इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। गुरु जी की ललकार पर अजीमखाँ ने बड़ी शूरवीरता दिखाई परन्तु इस घमासान युद्ध के अन्त में अजीमखाँ गुरु जी के हाथों मारा गया और सेना में भगदड़ मच गई। स्वामी के लिए अजीमखाँ के प्राणोत्सर्ग के साथ ही इस जंगनामे के कथानक का अन्त हो जाता है।

यह वीरकाव्य नाटकीयता एवं साहित्यिकता से अलंकृत है। इस में कवि ने अपने नायक की अत्युक्तिपूर्ण प्रसंशा भी स्थान-स्थान पर की है। अणीराय के वीर नायक के शौर्य से शत्रुओं के कलेजे काँपने लगते हैं।

"स्री गुरु गोविन्द सिंह चढ़ै, अरि के सुनके हियरे घहिराने।
तेज के त्रास ते यौं तरफें, थरके थिरिआ ज्यों पारद पाने ॥ ३ ॥" (पृ० १३)

× × ×

"तुरंग फौज तोर कै मतंग मान मोर कै,
लरै करैं अधीर सत्र जत्र पत्र पान को।
जिते समीप को, गिनैं, क्रिपान कोप ज्यों हनैं,
प्रचंड खंड किल्त मुंड तेज पुंज भान को।
घटा छटा बिदारनी धनी धरा प्रहारनी,
कि काल बिआल काल कूल गूढ़ बिग्रान त्रान को।
प्रसिद्ध दीप देस मैं पुरी गनेस सेस मैं,
गुरु गोविन्द सिंह की क्रिपान के समान को ॥ ३० ॥" (पृ०१७)

इसे पढ़ कर भूषण के वीर नायक शिवाजी के शौर्य की स्मृति हो आती है। 'जंगनामा' युद्ध-प्रधान काव्य होने के नाते इसमें दोनों पक्षों के वीरों के शौर्य संपन्न व्यक्तित्व की झाँकी मिलती हैं। यही अणीराय के युद्ध वर्णन की विशिष्टता दिखाई देती है। दोनों पक्षों की सेनाओं के प्रयाण, तीरों-तोपों, हाथी-घोड़ों, शूरवीरों का व्यक्तित्व चित्रण साहश्यमूलक अलंकारों से कर कवि ने अपनी युद्ध वर्णन क्षमता का परिचय दिया है जैसे

"कूच कियो अजीम सरजै भान मैं। डर डुल्ले दिग्पाल चल असमान मैं ॥
सैयद चले पठान, मुगल कई लक्ख हैं। चले जाहिं सनमुख, काल सभ भक्ख हैं ॥

"आप घटा अंकुश घट, बग दन्तन की पाँति।
मद पानी वानी गरज्ज, घन गज एकै भांति ॥२४॥ (पृ० १५)

+ + +

चढ़ि चल्यो जु सिंह गुबिंद, सँग सैना सबल।
गन पच्छम घनघोर उठयो पावस प्रबल।
मत्त मतंग उतंग धुजा फरहर्राहि इव।
धुरवा धावत लिये इन्द्र को धनुष सिव।
फिर धुरवा सेंधर धाए धीरज धराधर।
कोर बाँव गिर जाय कीने बराबर।
बग पंत दंत दरसाए, बादल मेह के।
चुए गंड मद पानी भारी देह के।
छाए मेव जु डंबर अंबर से सरस।
भई धुद रज रुंद सूर भाप्यो दरस।" (रास छन्द) २६ (पृष्ठ १६)

इससे भी बढ़कर उन्होंने दोनों पक्षों की सेनाओं के भिडन्त का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

"मची मार भारी, दुहूँ ओर ऐसी। भई भीर कुरखेत के खेत जैसी।
छुटै तोप, बन्दूक, घुरंनाल गोला। परे ऊख के पूख मैं वज्र ओला।
चले नाम कम्मान सों तीर तिक्खे। मनो भूमि भारत्थ पारथ पिक्खें।
किते बान कुहकंत भुवकंत आवे। उडैं आग ज्यों, लाग ज्यों नाग धावै।
कई बीर रन माहिं कर खग्ग भारैं। कटैं सीस लै ईस शमला सवारैं॥
करैं घाउ पर घाउ खपूआ कटारैं। मिले अंक जिन संक ज्यों परे प्यारैं॥
गिरैं लुत्थ पर लुत्थ बहु जुत्थ ऐसे। परे ताल के पाल बहु मग्र जैसे॥
किते नीर बिन मीन ज्यों तरफरावैं। किते लोह के छोह पर मोह धावैं।
५८ (पृ० २२)

इस जंगनामे में गुरु गोबिंद सिंह के अतिरिक्त पक्ष और विपक्ष के अन्य वीरों के पराक्रम एवं साहस की प्रशंसा की गई है, जिन में मुहकम सिंह, अजमखाँ और रफी अतेब आदि का नाम लिया जा सकता है। युद्ध वर्णन के लिए अणीराय ने दोनों प्रकार की काव्य-शैलियों का प्रयोग किया है। कहीं पर अलंकारों की छटा देखी जा सकती है, जिस के लिए उन्होंने रसानुकूल पौराणिक और प्राकृतिक उपमानों का उपयोग किया है तो कहीं निरलंकार शैली का प्रयोग हुआ है जो रस निष्पत्ति में सहायक होती है

अनुप्रासों एवं अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से युद्ध वर्णन की शोभा भी बढ़ जाती है। कहीं पर ध्वनिचित्र मिलते हैं तो कहीं पर गतिचित्रों की छटा ही निराली प्रतीत होती है—

रद फुट्टे बारहि, तलातल त्रिड तुड़ग।
धौल धराधर कम्पयो, कूर मकिड़ मुड़ग ॥ २६ ॥ (पृ० १९)

× + ×

काटत रूंडन, मुंडन, झुंडन, सो तरवार गुरू बरसाही ॥४०॥ (पृ० १९)
घटा छटा विदारनी, धनी धरा प्रहारनी, कि काल ब्याल काल कूट गूड़ ब्यान आन को। प्रसिद्ध दीप देस में, पुरी गनेस सेस हैं, गुरु गोविन्द सिंह की क्रिपान के समान को।" (३०) पृ० १७-१८।

प्रथम ध्वनिचित्र का उदाहरण है और द्वितीय और तृतीय पद्यांश गतिचित्रों के सुन्दर उदाहरण हैं। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग जाने-पहचाने उपमान की छटा और निर-नकार शैली के संश्लिष्ट चित्र अद्वितीय बन पड़े है।

"छाड-छाड तीरन को मुड़ी है कमान केती,
छुटकै, बन्दूकै; गोली बानी द्वै दुरत है।
मारि मारि बरछी मुरी है केती राय कवि,
बान भबकाय, मुरे भूमि में हुरत है।
काटि-काटि सीस तरवार मेरि म्यान केती,
हाथी घोरा मुरे जासो समर जुरत है।
लरि-लरि मुरैं फेर लरें परै रन मांझ,
मुहमक सिंह जू को मुख न मुरत है ॥ ३९ ॥" (पृ० १९)

यह सब प्रयोग वीररस की निष्पत्ति में सहायक होते है। इसकी भाषा व्रज है, परन्तु उसमें खड़ी बोली और पंजाबी का पुट भी मिलता है। यह रचना शब्दाडम्बर से शून्य है। अडिल, मनहर, दोहरा, सोरठा, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि छंद वैविध्य भी सराहनीय है। इस वीर काव्य का उद्देश्य तत्कालीन हिंदू चेतना को जाग्रत करना था। धर्मान्ध औरंगजेब के उत्पीड़नों से जनता दुःखी थी। धर्मयोद्धा गुरु गोविन्द सिंह के धर्मपरक युद्धों के विषय में उन्होंने लिखा है :—

तख्ते बैठ अनीमि को, सुने न चित अकुलाय।
ता को कर्ता दिलन के, क्यों न लगे फल आय ॥ ६ ॥
मुसलमान हिंदू करे, जु देव ढहावै नित्त।
फरयाद लगी दरगाह में, कर्ता धरे न चित्त ॥ ७ ॥
हुकम हुओ गोविन्द को, उतर्‍यो अवनी जाय।
कुटल करम औरंग करे, ताको देहु सजाय।
धनुख चक्र खंडा धरै, हिन्दू पति सुलतान।
सोढ़ वंश अवतार हो- गोविन्द सिंह बलवान ॥ ९ ॥

> लिखे पठाए शाह पैं, छोड्यो सकल समाज।
> कछुक दिनन लग खालसा, लहै तख्त और ताज ॥ १० ॥ (पृ०-१४)

पंजाबी भाषा में एक (जंगनामा) वार-काव्य -शैली मिलती है जो उसकी विशिष्टता है। उसका हिन्दी में सर्वप्रथम श्री अणीराय ने प्रयोग किया है। अणीराय के इस विशुद्ध युद्ध काव्य को हिन्दी साहित्य को भेंट कर डॉ० गोयल ने इसकी श्रवृद्धि की है। पुस्तक के आरम्भ मे दी गई भूमिका में इस युद्ध काव्य की विशेषताओं पर विचार किया गया है।

—आशानन्द वोहरा

गुरु गोबिन्दसिंह : विचार और चिन्तन **डॉ० जयभगवान गोयल**	प्रकाशक : पंजाब यूनिवर्सिटी ब्यूरो, चंडीगढ़ संस्करण : प्रथम मूल्य दो : रुपये चालिस पैसे

निर्भीकता की प्रतिमूर्ति गुरु गोबिन्द सिंह जी ने औरंगजेब की धर्मान्धपूर्ण संकीर्णता संशयग्रस्तता एवं अदूरदर्शिता से पीड़ित हिन्दु जाति के जीवन में परिवर्तन लाने के लिए सशस्त्र खालसा पंथ की स्थापना की थी। नर-कंकालों को उनकी विस्मृत वीरता से परिचित कराने के लिए उन्होंने वीर काव्यों का सृजन किया। जो दशमग्रंथ में संकलित हैं। उन से उनके धर्म संस्थापक वीर योद्धा का व्यक्तित्व विशेष रूप से व्यक्त होता है। तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक रुग्णता के युग में उन्होंने जन-जीवन में वीरता की भावनाओं का संचार किया। उनकी प्रार्थना में भी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत भावनाएँ दिखाई देती है।—

> "देहि शिवा वर मोहि इहै, शुभ कर्मन ते कबहु न टरों।
> न डरों अरि सों जब जाइ लरों, निसचे करि अपनी जीत करों।
> अर सिक्ख हो अपने ही मन को, इह लालस हउ गुण तउ उचरों।
> जब आव की अउध निदान बनैं, अति हो रण मैं -तब जूझि मरों।

यही राष्ट्रीय भावना उनके समस्त काव्य में परिव्याप्त है। "उन्होंने वीर भावना का सचार कर सिक्ख-अनुयायियों को एक नई दिशा अवश्य दी, परन्तु उनकी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक भावना मूलरूप में पूर्व गुरुओं के ही अनुरूप थी। उनके साहित्य में दार्शनिक तत्व अथवा आध्यात्मिक विचार बहुत ही पुष्ट, प्रौढ़ एवं सुस्पष्ट है। उन्होंने आध्यात्मिकता पर विशद प्रकाश डाला है, यद्यपि उनके विचार विशुद्ध ज्ञानमार्गियों की भाँति क्रमबद्ध और

संगठित रूप में प्रकट नहीं हुए। उनके दार्शनिक विचार और आचार सम्बन्धी दृष्टिकोण 'दशम्ग्रंथ' में अनेक स्थलों पर मोतियों की भाँति बिखरे हुए है। सुरुचि एवं सुदृष्टि से यदि उन्हें संकलित किया जाय तो एक बहुत ही सुन्दर माला बन सकती है। मुख्य रूप से 'जाप-साहिब' 'अकाल उस्तति' 'विचित्रनाटक' (अध्याय २-३) 'चौबिस अवतार' (१४३ छंद) 'रामावतार' (छंद २०४, २०५, ६६९, ६९४, ७०६,- ८५९) 'कृष्णावतार' (४३४, २४९।, २४९२,२३९९) 'ब्रह्मावतार' (१–१९)'रुद्रावतार' (७९-१०९) 'ज्ञान-प्रबोध' 'शब्द-हजारे श्री मुखताक सवैये' आदि में उनके ब्रह्म, जीव-आत्मा, सृष्टि, जगत, माया, अवतार, कर्म, ज्ञान, विरक्ति, योग, भक्ति आदि से सम्बन्धित विचार देखे जा सकते है।'' (पृ० ७)

उनके इन्हीं विचारों का चिन्तन इस लघु पुस्तिका में प्रस्तुत किया गया है। 'देश प्रेम धर्मप्रेम, प्राणीप्रेम, और प्रभू प्रेम यही उनका अमर संदेश था। जाति-पाँति, वर्ग-वर्ण भेद एवं वर्णाश्रम के कट्टर विरोधी और मानव मात्र की एकता में दृढ़ विश्वास रखने वाले, सत्य और न्याय के लिए लड़ने वाले वे सच्चे धर्मवीर थे। उनकी जीवन दृष्टि आशामयी, उत्साहपूर्ण और आस्थावादी थी और जीवनचर्या साहसपूर्ण, संयमित, संतुलित एवं सात्विक अमको योद्धा का रूप संत के रक्षार्थ ही धारण करना पड़ा था। योद्धा-रूप धर्म-स्थापन का साधन था, साध्य नहीं। वस्तुतः वे सही अर्थों में संत-योद्धा थे।'' (पृ० ३३)

सन्त योद्धा के व्यक्तित्व का परिचय दिलाने वाली यह पुस्तिका हिन्दी साहित्य के अनुशीलन कर्ताओं एवं 'दशम्ग्रन्थ' के शोध कर्ताओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

—आशानन्द वोहरा

वीर कवि दशमेश
डॉ० जयभगवान गोयल

प्रकाशक : पंजाब यूनिवर्सिटी ब्यूरो चंडीगढ़
संस्करण : प्रथम
मूल्य : एक रुपया ४० पैसे

यह डॉ० गोयल की 'दशम् ग्रन्थ' पर लिखी समीक्षात्मक लघु पुस्तिका है जिसमे गुरु गोबिंद सिंह की काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया गया है। आरम्भ में मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन के विकास प्रकाश डालते हुए लेखक का कहना है कि ''मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन को 'हारी हुई' या पराजित मनोवृत्ति की देन कहना सर्वथा भ्रामक है। भारतीयों की मनोवृत्ति 'हारी हुई' कदापि नहीं थी। वे हारे अवश्य थे, परन्तु उन्होंने हार बिलकुल नहीं मानी थी।''

पंजाब में इस अनदोलन का संचालन यद्यपि गुरु नानक ने किया था परन्तु यवन आक्रमणकारियों का मुकाबला करने के लिए गुरु गोबिंद सिंह के नेतृत्त्व में सिक्खों ने एक शक्ति-

शाली विद्रोहात्मक स्वातन्त्र्य आंदोलन का सूत्रपात किया। औरंगजेब और पहाड़ी राजाओं के विरुद्ध धर्म युद्ध के लिए अपने अनुयायियों में उत्साह उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अपनी काव्य-शक्ति का उपयोग किया। 'दशमग्रंथ में तत्कालीन राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक चेतना मुखरित हुई है।

इस ग्रन्थ के कृतित्व के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में एकमत नहीं पाया जाता तो भी उसे गुरु की स्वीकृति प्राप्त थी। इस में दो प्रकार की (ऐतिहासिक और पौराणिक) रचनाएँ सक लित हैं। ऐतिहासिक रचनाओं में 'विचित्र नाटक' महत्वपूर्ण है। इस 'आत्मकथा' के विषय-मे विद्वान लेखक का मत है कि "मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की साहसिक एवं ओजस्वी पद्यात्मक आत्मकथा दुर्लभ है!" इस में कुल १४ अध्याय हैं। आठ अध्यायों में युद्ध वर्णन मिलता है। प्रबन्ध कथा की दृष्टि से इसे शिथिल रचना कहा गया है परन्तु युद्ध कथा वर्णन की महानता के कारण 'अपनी कथा' एक उत्कृष्ट रचना है। (पृ० ८-९)

द्वितीय प्रकार की रचना में पौराणिक आख्यानों का वर्णन किया गया है। "इस मे मच्छ, कच्छप, नर, नारायण, मोहिनी, बराह, नृसिंह, बावन, परशुराम, ब्रह्मा, रुद्र, जालन्धर विष्णु, दुर्गा, अर्हन्तदेव, मनु, धन्वन्तरि, सूर्य, चन्द्र, राम, कृष्ण, निहकलंकी, बौद्ध के अवतारो की कथाओं का निष्ठापूर्वक वर्णन किया गया है। ये कथाएँ मुख्यत: शिवपुराण (बराह) भागवत पुराण, पद्म पुराण (नृसिंह, राम) ब्रह्म, वैवर्त, ब्रह्मांड, भाविष्य मार्कण्डेय (ब्रह्मावतार) हरिवंशपुराण (धन्वन्तरि) आदि से ली गई है। (पृ० ९-१०)।

"इन कथाओं में कच्छप, मच्छ, नर नारायण, मोहिनी, बराह अर्हन्त धन्वन्तरि मनु, सूर्य, चाँद आदि अवतारों से सम्बन्धित प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है। अधिक विस्तार 'रामावतार' तथा कृष्णावतार को ही दिया गया है। वस्तुत: ये ही दो रचनाएँ स्वतंत्र प्रबंध की कोटि मे रखी जा सकती है। इनमें भावों की विशदता, मार्मिक सजीवता है।"

इन के अतिरिक्त इसमें 'चण्डी चरित' नामक बीर रसात्मक रचनाएँ भी संकलित है। "दशम् ग्रन्थ की इन रचनाओं में युद्ध का विस्तृत और विशद चित्रण हुआ है। यद्यपि उनमे योद्धाओं की भिड़न्त अथवा प्रहार-प्रतिप्रहार की प्रधानता है और उसका अत्यन्त ओजस्वी, उग्रता पूर्ण प्रचंड एवं भीषण वर्णन करने में कवि पूर्ण सफल रहा है। द्वन्द युद्ध, दो दलो के पारस्परिक युद्ध एवं एक योद्धा के अनेक सैनिकों से जूझने के चित्रण में भी उसे पूर्ण सफलता मिली है, फिर भी सेना प्रस्थान, युद्ध भूमि की विकरालता, योद्धाओं की वीरता एवं शौर्य प्रदर्शन तथा उनकी उत्साहपूर्ण उक्तियों आदि का भी सजीव चित्रण किया गया है।' (पृ० १५)

इन सभी विशेषताओं का लेखक ने संक्षेप में परिचय दिया है। अन्त में इस ग्रन्थ के छन्दविधान भाषा चित्रात्मकता अलंकार योजना इत्यादि पर भी प्रकाश डाला है। यह रचना साहित्यिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

—आशानन्द वोहरा

पट्टावली प्रबन्ध संग्रह
सं० डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्रकाशक : जैन इतिहास निर्माण समिति
जयपुर
संस्करण : प्रथम
मूल्य : १० रुपये

इस संग्रह में जैन धर्म से सम्बन्धित दो परम्पराओं के साधुओं की सत्रह पट्टावलियाँ दी गई हैं। इन पट्टावलियों का काल वीर संवत् ६४ (विक्रम पूर्व ४०६) से विक्रम संवत् १८५४ तक पहुँचता है। इतनी लम्बी अवधि में जैन धर्म और सम्बन्धित साधुओं ने अनेक ऐतिहासिक परिवर्तन देखे। कुछ ऐसे जैन-साधु भी हुए, जिन्होंने समकालीन और परवर्तित इतिहास को प्रभावित किया है। इस दृष्टि से इन पट्टावलियों का जितना धार्मिक महत्व है, उतना ही ऐतिहासिक महत्व भी है।

भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनके पश्चात् जो स्थविर पीठ पर आसीन हुए, उनसे सम्बन्धित जानकारी जैन-आगमों से मिलती है। इन स्थविरों की तीन सूचियाँ मिलती हैं। पहली बार इस सूची के वाचन के लिए आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में सभा हुई थी। इस सभा में उत्तर प्रदेश और मध्य भारत के प्रतिनिधि ही सम्मिलित हुए थे। इस सभा ने भगवान महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा से लेकर देवर्द्धिगण तक २७ स्थविरों की सूची निर्धारित की। माथुरी वाचना के पश्चात् आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में दक्षिण के प्रव्रजन करने वाले साधुओं की सभा वलभी में हुई। इस सभा ने भी २७ साधुओं की सूची बनाई, किन्तु उसमें कुछ ऐसे साधुओं के नाम नहीं हैं, जो माथुरी वाचना में सम्मिलित थे। तीसरी सभा में माथुरी और वलभी दोनों वाचना के प्रतिनिधि आये थे। उन्होंने पहले की दोनों वाचनाओं के वे साधु भी सम्मिलित कर लिये, जो किसी एक में तो गिनाये गये थे, किन्तु दूसरी वाचना में उनके नाम नहीं थे। इस तरह तीसरी वाचना में २७ के स्थान पर ३४ स्थविर हो गये। तीसरी वाचना के कारण जो सूची तैयार हुई, उसमें १६१५ वि० तक पट्टाधिकारी जैन स्थविरों की सूची आ गई।

विक्रम संवत् १५३१ के पश्चात् जैन-साधुओं की अनेक पट्ट-परम्पराएँ प्रारम्भ हुईं। यह आश्चर्य की बात है कि जैन धर्मावलंबी सीमित संख्या में होते हुए भी अनेक मतमतान्तरों में विभक्त हैं और ऐसे संकीर्ण विचारों के जैन साधुओं की संख्या कम नहीं है जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा करते दिखाई देते हैं, यद्यपि इन सभी मतों का सम्बन्ध जैन धर्म से है। विक्रम संवत् १५३१ में लोंकाशाह नामक जैन धर्मावलम्बी ने अनेक रूढ़ियों के निराकरण का प्रयत्न किया। लोंकाशाह के कारण एक नई परम्परा प्रारम्भ हुई। लोंकाशाह के पश्चात् नये-नये पट्ट स्थापित हुए। लोंकाशाह की परम्परा 'लोंकागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुई। फिर १८वीं शताब्दी में लोंकागच्छ की परम्परा से ढूँढिया साधुमार्गी या बाईस टोला अथवा स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला। फिर स्थानकवासी पट्ट-परम्परा से तेरहपंथी सम्प्रदाय

पृथक हुआ। लोंकागच्छ की एक शाखा नागोर के कारण 'नागोरी लोंकागच्छ' और दूसरी गुजरात में विकसित होने के कारण 'गुजराती लोंकागच्छ' के नाम से विख्यात हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ से पहले विविध पट्टावलियाँ चार संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी है। श्वेताम्बर, खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि पट्टावलियों का प्रकाशन पाश्चात्य विद्वानों ने किया। मुनिजिन विजय जी ने 'विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह' वि० सं० २०१७ में छपवाया था, जिसमें उपकेशगच्छ, आगमगच्छ, तपागच्छ, नागपुरी (नागोरी) बृहद्‌गच्छ, राजगच्छ, पल्लीवाकगच्छ, अंचलगच्छ, लोंकागच्छ, कडुआमति, पूर्णिमागच्छ और एक छोटी स्थानकवासी पट्टावली भी दी गई है।

इस प्रकार की पट्टावलियों के प्रकाशन से धार्मिक इतिहास की रूपरेखा सामने आ जाती है। जैन विद्वानों का यह प्रयास इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि इस समय तक हिन्दू धर्म से सम्बन्धित मतों और सम्प्रदायों के साधुओं तथा प्रमुख विचारकों की क्रमबद्ध परम्परा प्रकाशित नहीं हुई है। यहाँ तक कि आदि जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों के शंकराचार्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार की पुस्तक नितान्त आवश्यक है। यही बात अन्य आचार्यों तथा साधु-सन्तों की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' में लोंकागच्छ परम्परा की सात और स्थानकवासी परम्परा की १० पट्टावलियाँ दी गई हैं। इस तरह यह संग्रह जैन धर्म की विशेष परम्परा के साधुओं से पाठकों को परिचित कराती है।

लोंकागच्छ परम्परा—१. पट्टावली प्रबन्ध, २. गणि तेजसीकृत पद्य-पट्टावली, ३. संक्षिप्त पट्टावली, ४. बालापुर पट्टावली, ५. बडौदा पट्टावली, ६. मोटा पक्ष की पट्टावली, ७. लोंकागच्छीय पट्‌टावली।

स्थानकवासी परम्परा—१. विनयचन्द्र कृत पट्टावली, २. प्राचीन पट्‌टावली, ३. पूज्य जीवराजजी की पट्टावली, ४. खंभात पट्टावली, ५. गुजरात पट्टावली, ६. मरुधर पट्टावली, ७. मेवाड़ पट्टावली, ८. दरियापुरी सम्प्रदाय पट्टावली, ९. कोटा परम्परा की पट्टावली।

इनमें से 'पट्टावली प्रबन्ध' संस्कृत की रचना है। गद्य के साथ कहीं-कहीं श्लोक भी दिये गये हैं। गणि तेजसी कृत पट्टावली में चार छन्द है। स्थानकवासी परम्परा की पहली पट्टावली (रचयिता विनयचन्द्र जी) हिन्दी में है। इसमें दोहा, छप्पय, हनूफाल छन्द, शंकर छन्द, सवैया तथा अन्य छन्दों का उपयोग हुआ है। शेष पट्टावलियाँ गुजराती गद्य में लिखी गई है।

अधिकांश पट्टावलियों के आरम्भ में अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात् चलनेवाली स्थविर परम्परा के २७ अथवा ३४ साधुओं का उल्लेख करने के पश्चात् लोंकागच्छ अथवा स्थानकवासी परम्परा का वर्णन किया गया है।

सभी पट्‌टावलियाँ पिछले १५० वर्षों में लिखी गई हैं। 'पट्टावली प्रबन्ध' १८९० वि० में पटियाला के पास एक गाँव में लिखा गया। गणि तेजसी कृत पद्य पट्टावली भी विक्रम की २०वीं शती की रचना है। संक्षिप्त पट्टावली १८२७ वि० और बड़ौदा पट्‌टावली १९३८ वि०

की लिखी हुई है। अन्य पट्टावलियों की रचना भी विक्रम की बीसवीं शती में हुई। फिर इन पट्टावलियों का आधार प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं। लोक परम्परा से चली आई बातों को लिपिबद्ध किया गया है।

अधिकांश साधुओं का केवल नाम निर्देश किया गया है, उन साधुओं के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी नहीं मिलती, यदि जानकारी दी भी गई है तो बहुत सरसरी। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—२. तत्पट्टे पूज्य मूलचन्द जी स्वामी, दसा श्रीमाली, अमदाबादाना स० १७५३ मां दीक्षा लीधी, सर्वायु ८१ वर्षनी, सं० १८०२ में दीवंगत अमदाबादे। ३. तत्पट्टे पूज बाहू जी स्वामी लाति बालंद, अहमदाबादना, स० १७७५ मां दीक्षा, सर्वायु ९९ वर्ष। सं० १८१४ देवगत सूरत बंदीरे प्राप्त। पृ० २०९ तत्पट्टे श्री धर्म सूरिः ॥४५॥ तत्पट्टे श्री रत्नसिंह सूरिः ॥४६॥ तत्पट्टे श्री देवेन्द्र सूरिः ॥४७॥ आदि, पृ० १७।

पुज्य श्री जीववचंद जी माहाराज ने तेर चेला हुआ जेहना नाम कहे छे।९३। उइजन जी सांमी।९४। मलुकचन्द जी सांमी।९५। जेचन्द जी सांमी।९६॥ आदि (पृ० २७७)।

कुछ साधुओं के सम्बन्ध में अधिक जानकारी दी गई है। ऐसा करते समय संस्कृत की पट्टावली में कुछ लालित्य उत्पन्न किया गया है—'अत्र भव्य जलैः स्नानं, तत्र गात्रे मल सञ्चयः, अत्र गोदुग्धादि पेयमपेयम्, तत्र नित्यमुष्ण जलं पास्यसि; अत्र त्वं राजेवाज्ञां करोषि, तत्र तु गृहे गृहे भिक्षार्थमटनं कंटकादि सहनमित्यादनि पितृष्वसा बहूनि वचांसि व्याव्हृतानि। (रूपचन्द्र जैन संन्यासी बनना चाहता है, उसकी भुआ उसे रोकती है—यहाँ (घर में) सुन्दर जल से स्नान, वहाँ (संन्यासाश्रम में) शरीर पर मल जमा होता है, यहाँ गोदुग्ध आदि पेयो का सेवन, वहाँ नित्य गर्म पानी पीओगे, यहाँ तुम राजा की तरह आज्ञा देते हो, वहाँ घर-घर भिक्षा माँगनी होगी, काँटे आदि का सेवन करना होगा, इस तरह की बहुत-सी बातें भुआ ने कहीं)।

इन पट्टावलियों में १९वीं शती के कुछ साधुओं का वृत्त इस ढंग से दिया गया है कि हम उनका उपयोग इतिहास के लिए कर सकते हैं। लेखकों ने समकालीन साधुओं का वृत्त विस्तार से और बहुत कुछ प्रामाणिक ढंग से दिया है। उदाहरण के लिए, हमें इस विवरण से पता चलता है कि पिछली शती में राजस्थान के जैन साधु पंजाब होते हुए सीमाप्रान्त तक जाते थे और अटक नदी के किनारे उनके उपदेश होते थे। एक साधु के सम्बन्ध में कहा गया है—"नागोर पुराद् विहृत्य भट्नेरकोट पादावधारितास्तत्र लघीयसोऽपि वाघासाहस्य वचन साहाय्यं कृतं—ततः सरस्वती पत्तने, हिंसार कोटे बुढलाडानिगमे, टोहणा, सुनाम, सन्मानक, रोपड, वजवाडा, राही, जालंधर, गुजरात, रावलपिंडी प्रभृतिषु क्षेत्रेषु विहृत्य सम्यग् लवपुर्यां प्रवेशोत्सवे जायमाने (पृ० ६७) ···श्री सुनाम 'पट्यालांवाला' धर्मक्षेत्र, रोपड़, होशियारपुरा, जेजों जगद्रम्य, कृष्णपुरा खंडेलवाल श्रावक मण्डित पण्डित यति प्रमुखानेकच्छेक जनमनस्सु अमन्दानन्दमुत्यादयन्तोऽमृतसरो लवपुरी शालिकोटाद् यदन्यक्षेत्रेषु विहरन्तः श्री श्री पूज्याः पुनः सर्वाद्धि चारु चूरु निगमादिषु चतुर्मास्योऽनेकशो विधाय हितकृद् धर्म प्ररूपणा दिल्ली, लक्ष्मणपुरी काशी पाटलिपुत्र मकसूदाबादादि स्थानीयेषु सस्थित्य च पुनर्दिल्ली नगरे चतुर्मासीद्वयम

कार्यं । (पृ० ७४–७५) नागोर से विहार कर भट्टनेर कोट में श्री पूज्य जी पधारे, वहां पर छोटे वाघाशाह को वचन से सहायता दी''' फिर सरस्वती पत्तन, हिमारकोट, बुढ़लाड़ा मंडी, टोहणा, सुनाम, समाणा, रोपड़, बैजवाड़ा, राही, जालंधर, गुजरात (पंजाब का नगर) और रावलपिंडी प्रभृति क्षेत्रों में विचरकर लवपुरी में प्रवेशोत्सव किया । (पृ० ६७) श्री सुनाम, पटियाला, अंबाला, धर्मक्षेत्र, रोपड़, होशियारपुर, जेजो, जगद्रम्य (जगरांवा), कृष्णपुरा जो कि खंडेलवाल श्रावकों से मंडित है, अनेक पंडित और यति प्रमुख कुशल लोगों के मन में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न करते हुए अमृतसर, लाहौर, स्यालकोटादि क्षेत्रों में विहार करते हुए श्री श्री पूज्य फिर सब ऋद्धि से युक्त सुन्दर चूरूशहर आदि में अनेक चतुर्मास बिता कर हितकारी धर्म प्ररूपणा करते हुए दिल्ली, लखनऊ, काशी, पटना, मकसूदाबाद आदि स्थानों मे ठहर कर फिर दिल्ली नगर में दो चतुर्मास बिताये । (पृ० ७४–७५)

पुस्तक के अन्त में दिये गये तीन परिशिष्ट और नामानुक्रमणिका बहुत उपयोगी है। यथास्थान ज्ञात महापुरुषों और स्थान आदि के सम्बन्ध में आवश्यक टिप्पणियाँ अपेक्षित थी। इन टिप्पाणियों से ऐसे पाठक भी लाभ उठा सकते थे, जो जैन धर्म और जैन साधुओं की परम्परा से परिचित नहीं हैं।

श्रीराम शर्मा

कवीन्द्र चन्द्रिका
सम्पादक डॉ० कृष्ण दिवाकर

प्रकाशक : महाराष्ट्र राष्ट्र भाषा सभा पूना ।
संस्करण : प्रथम
मूल्य : ५ रुपये

कवीन्द्राचार्य सरस्वती नामक विद्वान् संयासी गोदावरी के किनारे महाराष्ट्र के किसी गाँव में उत्पन्न हुए थे और छोटी आयु में ही काशी में जा बसे थे। जिस समय महाराष्ट्र मे शिवाजी छत्रपति मुगलो के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, उस समय कवीन्द्राचार्य काशी में रहते हुए मुगल सम्राटों का यशोगान कर रहे थे। इन्होंने 'जगद्विजय छन्द' नामक संस्कृत काव्य मुगल सम्राट् जहाँगीर की प्रसंशा में लिखा। यह पुस्तक डॉक्टर सी० कुन्हन राजा ने विस्तृत भूमिका के साथ सम्पादित की है। डॉक्टर कुन्हन राजा ने 'जगद्विजय' शब्द को 'जहाँगीर' का पर्यायवाची माना है। संस्कृत कवीन्द्राचर्य की दूसरी रचना 'कवीन्द्र कल्पद्रुम' है। इन्होंने 'दश-कुमार चरित' पर 'पदचन्द्रिका' नामक टीका लिखी। कवीन्द्राचार्य की तीन हिन्दी कृतियाँ भी है—'कवीन्द्र कल्पलता' 'ज्ञानसार' तथा 'समर सार'। कवीन्द्र कल्पलता प्रकाशित हो चुकी है

कवीन्द्राचार्य का मुग़ल दरबार से सम्बन्ध जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् भी बना रहा। दाराशिकोह इन्हें गुरु मानते थे मुगल दरबार से कवीन्द्राचार्य को दो हजार रुपये वार्षिक की सहायता मिला करती थी

एक घटना के कारण समूचे उत्तर भारत का ध्यान कवीन्द्राचार्य की ओर आकर्षित हुआ। शाहजहाँ के शासन काल में काशी, प्रयाग आदि में तीर्थयात्रियों से कर लिया जाने लगा। इस कर के कारण हिन्दु समाज बहुत दुःखी हुआ। काशी के पण्डितों ने इस कर के विरोध में एक प्रतिनिधि मंडल दिल्ली भेजा। इस दल का नेतृत्व कवीन्द्राचार्य ने किया। शाहजहाँ के दरबार में कवीन्द्राचार्य ने हिन्दु तीर्थयात्रियों की शिकायत इतने प्रभावशाली ढंग से रखी की शाहजहाँ ने तुरन्त तीर्थ कर समाप्त कर दिया। इस घटना से प्रभावित हो कर हिन्दी के तत्कालीन अनेक कवियों ने कवीन्द्राचार्य की प्रशस्तियाँ लिखीं :

तीरथ के उपकार सब ही के तीरथ के,
महावीर थके काहू में न रह्यो वर तो।
राखी वेडी हद्द हिंदुवानि सब हिंदुन की,
कहै गोपी नाथ काम कीनो है अपर तो।
इन्द्र कवि गुरु चन्द्र दिन इन्द्र तेरी ऐसी,
लाज और को तु जिय धर तो।
कर तो मिटाई दूरि कर तो न प्राग,
करु जउ पातिसाहि जू को आपुव कर तो।

गोपीनाथ (कवीन्द्र चन्द्रिका, पृ० ८४)

'कवीन्द्र चन्द्रिका' को सम्पादक ने 'हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थ' लिखा है। पुस्तक के 'प्रास्ताविक' में डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है, 'उस समय के संस्कृत और हिन्दी के विद्वान कवियों ने इनकी प्रशंसा में दो अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किये। संस्कृत ग्रंथ का नाम 'कवीन्द्र चन्द्रिका था। इसी प्रकार हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थ का नाम 'कवीन्द्र चन्द्रिका' था।''' एक सम्मतिदाता ने लिखा है, 'कवीन्द्र चन्द्रिका' स्वर्गीय कवीन्द्राचार्य सरस्वती को समपर्ति अभिनन्दन ग्रन्थ है।'''सत्रहवीं शताब्दी के इस अभिनन्दन ग्रन्थ को प्रकाश में लाकर अनुसन्धाता ने हिन्दी के अभिनन्दन-साहित्य के इतिहास में एक कड़ी जोड़ दी है।' (आवरण का अन्तिम पृष्ठ)।

वस्तुतः 'कवीन्द्र चन्द्रिका' एक समय में लिखी हुई कविताओं का संकलन नहीं है। कवियों ने समय समय कवीन्द्राचार्य की प्रशस्तियाँ लिखीं। उनमें से कुछ प्रशस्तियों को आगे चल कर किसी व्यक्ति ने एकत्रित कर दिया। पुस्तक में एक स्थान पर लिखा हुआ है—

सकल देश के कविनि मिलि कीने कवित अपार,
श्री कवीन्द्र कीरति करन तिनमें लीने सार। (पृ० ५६)

प्रशस्ति के तीन कारण थे (१) कवीन्द्राचार्य की विद्वत्ता तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व (२) शाहजहाँ से कह कर तीर्थ कर हटवाना (३ कवियों को आर्थिक सहायता देना कवीन्द्र चन्द्रिका के पदों को पढ़ने के पश्चात् लगता है तीसरा कारण ही अधिक

था कवीन्द्राचार्य को मुगल दरबार में तथा अन्य सूत्रों से पर्याप्त द्रव्य मिलता था। कवीन्द्र समय समय पर कवियों को आर्थिक सहायता देते थे इसीलिए अधिकांश कवियों के पद भाटों की याद दिलाते हैं। कई कवियों ने कवीन्द्राचार्य की प्रशस्ति करते समय अत्युक्ति से काम लिया है—

किधौं वेदव्यास किधौं देख्यो कवि कालिदास
किधौं सुकदेऊ सुकदेव सम आजु है।
किधौं कवि दंडी किधौं देह धरै आयु चंडी
किधौं सुरगुरु ह्वै के करै परकाजु है।
कवि 'जयराम' जाके कंठ आवै चार्यों वेद
ठाढ़ीं कर जोरे वाकवानी करै साजु है।
जैसे सुरराज द्विजराज ब्रजराज पुनि ते
सिंही गुसाईं कवि इन्द्र कविराजु है। (पृ० ८१)

कवीन्द्र चन्द्रिका में हिन्दी भाषी क्षेत्र के ३० और कुछ अनाम कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। अधिकांश पदों में लगभग यही दुहराया गया है कि कवीन्द्राचार्य बहुत विद्वान थे, उन्होंने तीर्थ-कर दूर करा दिया और वे कवियों को बहुत धन देते थे। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह संकलन अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। उस समय के कुछ नगरों और प्रदेशों का उल्लेख मिलता है, किन्तु कवियों ने नगरों के नाम अनुप्रास को ध्यान में रखकर लिखे है, अतः उनसे किसी ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक तथ्य का पता नहीं चलता।

'कवीन्द्र चन्द्रिका' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है कि इससे हिन्दी के कुछ कवियों का काल निर्धारित किया जा सकता है। प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि कवीन्द्राचार्य के समय जीवित थे, उनके १७ पद इस संकलन में दिये गये हैं। एक पद से पता चलता है कि चिन्तामणि ऋण-भार से दबे हुए थे। उन्होंने लिखा है—

कासी और प्रयाग को ज्यों करजु छुड़ायो ऐसे।
मेरोऊ कविन्द्र क्यों न करजु छुड़ाइये॥ (पृ० ७६)

'कवीन्द्र चन्द्रिका' में एक पद पण्डितराज का छपा है। सम्पादक ने यह पदपण्डितराज जगन्नाथ का बताया है। यदि यह बात सत्य हो तो इस संकलन का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

—डॉ० श्रीराम शर्मा

साम्राज्यवाद का उदय और अस्त | प्रकाशक : रेखा प्रकाशन : कलकत्ता
अयोध्या सिंह | संस्करण : प्रथम

'साम्राज्यवाद का उदय और अस्त' हिन्दी भाषा में एक महत्वपूर्ण विषय का गंभीरता-पूर्ण प्रवेश है। इस पुस्तक में एक गहन राजनीतिक विषय का अत्यंत सरल तथा स्पष्ट भाषा मे प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक का महत्व इसलिये भी बढ़ जाता है कि इसमें भारत की परिस्थितियों तथा वर्तमान समस्याओं की दृष्टि से साम्राज्यवाद का अध्ययन किया गया है। अधिकतर लोग राजनीतिक आर्थिक विचारों का पाश्चात्य अनुभव तथा चिंतन के संदर्भ में ही अध्ययन करते हैं। इसके फलस्वरूप हमारे समाधान अव्यावहारिक तथा अधूरे हो जाते हैं। इस पुस्तक में भारतीय संदर्भ को भी ध्यान में रखा गया है। इससे इसकी उपयोगिता और प्रमाणित हो जाती है। एक गूढ़ राजनीतिक विषय को एक ऐसी भाषा में प्रकट करना जिसे समझने में जनता को कठिनाई न हो और जो एक प्रचलित दृष्टिकोण का रूप ले सके, एक कठिन कार्य है। इसके अंतर्गत एक सम्यक संदर्भ का प्रवेश कर लेखक अपने कार्य में पर्याप्त सफल हो सका है।

पुस्तक में विषय के प्रतिपादन में दृष्टिकोण मार्क्सवादी लेनिनवादी है और इस से अनेक पाठक सुपरिचित हैं। परंतु हिन्दी में इस विषय पर विस्तारपूर्ण अध्ययन का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति यह पुस्तक करती है। इस प्रकार भाषा तथा प्रतिपादन की दृष्टि से पुस्तक राजनीति के विद्यार्थी तथा सामान्य राजनीतिक चेतना के लोगों के लिये उपयोगी है।

इसमें संदेह नहीं कि साम्राज्यवादी विकास का मुख्य कारण आर्थिक है और वह पूँजीवाद की मरणासन्न अवस्था है। लेखकों ने आज भी साम्राज्वाद के पीछे अनेक और कारण ढूँढने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिये, वर्तमान समय में शुम्पीटर का प्रयास उल्लेखनीय है। परंतु ये अन्य तत्व आषंगिक हैं और जैसा लेखक ने लेनिन का अनुसरण कर बतलाया है, आर्थिक कारण की प्रधानता अविवादस्पद है। आज पश्चिम के साम्राज्यवादी नेताओं तथा विचारकों ने नया नारा दिया है कि, अब साम्राज्यवादी युग का अंत हो गया है और अब परंपरागत साम्राज्यवादी देश लूट, मुनाफाखोरी तथा आधिपत्य के स्थान पर व्यापक कल्याण तथा मुक्ती करण के कार्य में लग गये हैं। इस नारे से एशिया, अफ्रिका तथा लैटिन अमरिका के देशों में जन-जागरण राष्ट्रीय स्वातंत्र तथा सामाजिक क्रांति के महत्व-को खतरा पैदा हो सकता है। समाजवादी मोर्चे, पिछड़े देशों के जन-आंदोलनों, साम्राज्यवादी पूंजीवादी अन्तर्विरोधों आदि के करण जहाँ साम्राज्यवाद की रीढ़ की हड्डी कमजोर हो गई है वहाँ उसने नये रूपों को ग्रहण करना भी आरंभ कर दिया है। नव-उपनिवेशवाद एक भयकर खतरा है तकनीक औद्योगिता तथा के सम्मिलित सहयोग ने उसे और उत्तेजित

कर दिया है। उससे सजग रहने और संघर्ष करने की आवश्यकता में कोई संदेह नहीं है। लेखक ने भारतीय पूंजीवाद की बढ़ती ताकत तथा अमरीकी साम्राज्यवाद पर भारत की बढती निर्भरता का संकेत कर अपने देश के जनवादी-समाजवादी आंदोलन को सचेत किया है।

लाल चीन के प्रश्न पर लेखक का वक्तव्य अधूरा जान पड़ता है। विश्व का समाजवादी उत्थान, भारत में समाजवादी आंदोलन, और सामान्यतः जनजागरण की दृष्टि से, लाल चीन के संदर्भ का सह मूल्यांकन अपरिहार्य है। जब लेखक यह कहता है कि चीन दुनिया के सब से ज्यादा शक्तिशाली अमरीकी साम्राज्यवादियों को खुली चुनौती दे रहा है तो चीन की वर्तमान नीति संबंधी तथ्यों के प्रकाश में इस कथन को आगे प्रमाणित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। आज के लाल चीन का रवैया एक पहेली ही नहीं वरन् संदेह का विषय भी लगता है। अमरीकी साम्राज्यवाद के सक्रिय विरोध तथा भारत जैसे देशों में पूंजीवाद एव नव-उपनिवेशवादी प्रवत्तियों के विरुद्ध वामपक्षीय संयुक्त-मोर्चे के विषय में चीन की नीति सहायक अथवा अनुकूल नहीं प्रतीत होती है। संशोधनवाद का सैद्धांतिक विरोध वास्तव मे हितकर रहा है परन्तु इस विरोध के चीनी संस्करण को अनिवार्यतः अप्रतिम तथा सर्वमान्य नही समझा जा सकता है।

यह कहा जा चुका है कि एक गहन विषय को सुगम भाषा में समझाने का कार्य कठिन है और इस क्षेत्र में सफल कृति होने के कारण इस पुस्तक का अपना स्थान है। फिर भी छपाई, अनुवाद आदि से संबंधित कुछ कमियों की ओर ध्यान दिया जा सकता है। ये निम्न-लिखित है :

अ. पृ० ४१. तिलक को दण्ड के स्थान पर तिलक को दिये गये दण्ड

५५	चाह	,, ,,	चाहे
२३२	भद्र अवज्ञा	,, ,,	सविनय अवज्ञा
२३३	पोटेक्शन	,, ,,	प्रोटेक्शन
२४५	लट	,, ,,	लूट
३३३	ड्यूस	,, ,,	ड्यूचे
३६३	चुनोती	,, ,,	चुनौती
३९१	सामूहिक फारमों में	,, ,,	फारमों में
३९२	विभागों में काम करने	,, ,,	काम करने

आ इन छपाई की भूलों के अतिरिक्त, समीक्षक का यह विचार है कि यदि कई स्थलो में अनूदित उद्धरणों तथा लेखक के अपने वाक्याशों को भी परिष्कृत कर लिया जाय तो भाषा और प्रभावपूर्ण तथा अर्थ और स्पष्ट हो सकता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है।

पृ, २३२—इमानदारी की हम उपलब्धि करते...के स्थान पर—इमानदारी को हम स्वीकार करते हैं।

,,२५२—साम्राज्यवादियों के शोषण के बदले—साम्राज्यवादियोंद्वारा शोषण ।

,,२५७—जे. डब्ल्यू जेरार्ड के हिटलर की प्रशंसा में दिये गये वक्तव्य में यदि उनका तथा उनके शब्दों का बार बार प्रयोग हटा कर समूचे वाक्य को इस प्रकार रक्खा जाय :—हिटलर जर्मनी के लिये जो कुछ कर रहे है..........उनकी ये सब बातें अच्छी हैं;.........''

,, ४०२—कभी अक्सर सक्रिय समर्थन से.........में केवल कभी या अक्सर शब्द से काम चल सकता है ।

,, ३६५—सामाजिक चरित्र की दृष्टि से स्थान पर सामाजिक दृष्टि से पर्याप्त होगा ।

,, ४१५—चरित्र के परिवर्तन की प्रक्रिया—यहाँ भी चरित्र के स्थान पर प्रकृति अथवा स्वरूप का प्रयोग वांछनीय है ।

—कृष्ण चन्द्र जोशी

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स एक्ट के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
१. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३. मुद्रक का नाम	राधा मुद्रणालय, इलाहाबाद
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	राधा मुद्रणालय, इलाहाबाद
६. प्रकाशक	श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८, पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९. सम्पादक का नाम	श्री बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक,
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मै उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोशाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष